सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 55 : अंक : 03
जून 2022

प्रकाशन तिथि : 01.06.2022

मूल्य - एक प्रति : 22/-, द्विवार्षिक : 400/-

अमृतकण

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

अर्थात्

हे भरत वंशी अर्जुन ! जिस प्रकार से एक ही सूर्य ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से एक ही आत्मा सम्पूर्ण वर्ग को प्रकाशित करता है।

◆ ◆ ◆

क्षेत्र क्षेत्र ज्ञयोरेव मन्तरं ज्ञान चाक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।

अर्थात्

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को एवं भूत, प्रकृति एवं मोक्ष के स्वरूप को जो अपने ज्ञान चक्षु के द्वारा जान लेता है, वह परम पद को प्राप्त हो जाता है।

◆ ◆ ◆

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।

– गीता 4/25

दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही भली भाँति अनुष्ठान किया करते है और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में अभेददर्शन रूप यज्ञ के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :–शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 55 जून 2022 अंक : 03

शाश्वत सुख का उपाय

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एक रूप बहुधा या करोति।
तमात्मस्थे येऽनुपश्यन्ति धीरस्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

सर्वान्तर्यामी प्राणी मात्र का नियन्ता जो अपने आपको अनेक रूपों में प्रकट करता है उसी नित्य चेतन शुद्ध स्वरूप को जो अपने अन्तरात्मा में देख लेते हैं उन्हीं को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	**विशेष लेख**- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	**सम्पादकीय**	5
3.	**तपोधन महामुनि पतंजलि**- श्री गौतम	10
4.	**ऋषि - दर्शन** - आचार्य श्री विनोवा भावे	13
5.	**शक्ति-एक वैज्ञानिक व्याख्या**- श्री राजेन्द्र बिहारी लाल जी	16
6.	**कल्याण मार्ग** - श्री विष्णु प्रसाद व्यास	19
7.	**मैं कौन हूँ**- अन्नू राम यादव	24
8.	**सबोध मन और अबोध मन**- श्री जे. कृष्ण मूर्ति	27
9.	**अनर्थकारी अर्थ**- श्री परिपूर्णा नन्द जी	30
10.	**आश्रम समाचार**	35
11.	**योगासन करने से पूर्व**- योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई	36

एक प्रति	: रु. 22.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 1000.00

हमारा विशेष लेख-

समर्पण का फल

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अखिलात्मा भगवान ने गीता में समर्पण की बात बार-बार समझाई है। भगवान कहते है **'मन्मना भव'** मेरे में मन वाला बनो। भगवान के चिन्तन से हम भगवान के मन वाले हो जायेंगे। छोटी शक्ति बड़ी शक्ति में लय हो जाया करती है। हमारे नासिका रन्ध्रों से निकलने वाले परमाणु भगवान कृष्ण के परमाणुओं के अन्दर मिल जायेंगे। जिस समय हमारे परमाणु भगवान कृष्ण के तेज के अन्दर लय हो जायेंगे तो हमारा मन उनका मन बन जायेगा। हमारे मन मे वही विचार आने लगेंगे जो भगवान चाहते हैं **'मन्मना भव'**। मन्मना भव हो जाने पर **'मामैवेष्यसि'** अर्जुन तू मुझे ही प्राप्त करेगा-मेरे पास ही पहुँच जायेगा। यह मैं सत्य कह रहा हूँ क्योंकि तू मेरा प्यारा है। **'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'** सर्व कर्मकाण्डों को छोड़कर मेरी शरण हो जाओ। तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। चिन्ता मत कर। श्री भगवान ने पहले भी **'यद करोषि यदश्नासि'** आदि वचनों से आत्मसमर्पण की बात अर्जुन को समझाई। हमारे प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार हर व्यक्ति भगवान को भोग लगाकर ही इसे प्रसाद रूप में ग्रहण करता है। ऐसा करने से उसके अन्दर खुदी का भाव मिट जायेगा। गुरुदेव के चरण कमलों में जिन का समर्पण है। उनका समर्पण परासत्ता का समर्पण है। वह किसी भी प्रकार से रहे निष्काम कर्मयोग को प्राप्त हो जायेगा और शनैः शनैः समाधि को प्राप्त हो जायेगा।

श्री प्रभु जी के चरण-कमलों से सम्बन्धित एक घटना बतलाता हूँ। नैपाल के जंगलो में एक बूढ़ा व्यक्ति श्री प्रभु जी की खूब सेवा किया करता था। उनके साथ में हरिहरानन्द तथा अन्य गुरुभाई भी रहा करते थे। वे लोग उस बूढ़े से ईर्ष्या किया करते थे। जो ज्यादा सेवा करता है उस से अन्य लोग चिढ़ते है यह स्वाभाविक बात है। उन्होंने सोचा-हम इस बूढ़े को ज्ञानगिर अघोरी के पास शीशगिर की ओर भेज देंगे वहाँ ज्ञानगिर इसको यंत्र पर चढ़ा देगा तथा खा लेगा और हमें सेवा का मौका मिल जायेगा। इस भावना से वे उसे वहाँ भेजना चाहते थे। मनुष्य अपनी बुद्धि से सोच लेता है कि प्रभुजी को इस बात का क्या पता चलेगा। बूढ़ा अघोरी द्वारा मारा जायेगा और हमें सेवा का मौका मिलेगा। श्री प्रभुजी हम पर खुश हो जायेंगे। उन लोगों ने चालाकी की। श्री प्रभु जी घट-घट के जानने वाले हैं। दण्डी स्वामी और अन्य लोग कहने लगे- कन्दमूल तो शीशगिर में अधिक मिलते है परन्तु वहाँ ज्ञानगिर अघोरी रहता है वह आदमी को खा जाता है। वह बूढ़ा कहने लगा प्रभुजी- वहाँ पर मैं जाऊँगा और कन्दमूल खोद लाऊँगा। प्रभुजी कहने लगे- नहीं बेटा-तुम दूसरी दिशा में चले जाओ लेकिन बूढ़े ने उधर ही जाने का हठ किया। बूढ़ा वहां चला गया- वहाँ उसे अघोरी मिल गया- ज्ञानगिर उसको देखकर सोचने लगा-पला-पलाया शिकार है दो-तीन दिन का भोजन तो हो ही जायेगा- ज्ञानगिर यह सोचकर उसे यंत्र पर चढ़ाने ही वाले थे कि इतने में आकाशवाणी होती है- ज्ञानगिर !

पलापलाया शिकार है दो तीन दिन का भोजन हो ही जायेगा। किन्तु यह देख लेना यह किसका बालक है सोच–समझकर हाथ लगाना। ज्ञानगिर ने देखा– कि श्री प्रभुजी का अखण्ड मण्डलाकार तेज है और उनका हाथ उसके सिर पर है। उसकी हिम्मत नहीं हुई उसे खाने की। अघोरियों का नियम होता है या तो वे शिकार को खा लेते हैं और यदि ऐसा न कर सके तो उसे वरदान देते हैं। अघोरी ने बूढ़े से कहा– तेरे कर्म तो बहुत ऊँचे हैं। तेरे रक्षक तो सर्व शक्तिमान हैं– मार हम तुझे सकते नहीं। अब तू वर माँग हमारा यही नियम है। अब बोल तू क्या चाहता है ? बूढ़ा कहने लगा। मैं तुझ से क्या मागूँगा ? तू माँग मुझ से – तू क्या चाहता है ? तू स्वयं मांगता है। ज्ञानगिर को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसके शरीर में सिद्धियों के स्थानों को देखने लगा कि क्या कोई सिद्धि भी इसके पा : देने वाली है। उसने देखा कि कोई सिद्धि तो नहीं है किन्तु फिर भी प्रभु जी के तेज की ओर आकृष्ट हुआ। देखा– वे कह रहे हैं बेटा– तू इसके लिये मुख से जो भी कहेगा वही हो जायेगा। तू दण्ड देना चाहेगा तो दण्ड मिल जायेगा तू इसे योगी बनाना चाहेगा तो यह योगी हो जायेगा– तेरे मुख से निकलते ही तत्क्षण वैसा ही हो जायेगा। इतने में ज्ञानगिर–उससे कहने लगा– यदि तू कुछ भी नहीं मांगेगा– तो भी मैंने तुझे वाक्सिद्धि दे दी। बूढ़े ने कहा– नहीं, मुझे तेरी वाक्सिद्धि नहीं चाहिये। किन्तु अघोरी कहने लगा– मैंने अपने नियम से यह सिद्धि तुझे दे ही दी है। वह बूढ़ा लौटकर श्री प्रभुजी के पास आ रहा था कि रास्ते में उसे गुरुभाई मिल गये और कहने लगे। चौरासी लाख मोल लाया कि नहीं। तू किसी को वरदान देगा किसी को शाप देगा इससे तू अवश्य ही चौरासी के चक्कर में पड़ जायेगा। बूढ़ा बेचारा सरल था। कहने लगा– अच्छा ऐसा होगा। उसने कन्दमूल का गट्ठर उन्हें देते हुये कहा– अच्छा भाई ! श्री प्रभुजी के चरणों में मेरी यह अन्तिम सेवा है। मैं अब वाक्सिद्धि और संकल्पसिद्धि को खोने के लिये जाता हूँ। उन्हें खोकर दूसरा जन्म लेकर 10–15 साल में फिर श्री प्रभुजी के चरणों में पहुँच जाऊँगा। बस ! यह मेरी अन्तिम सेवा श्री प्रभुजी के चरणों में अर्पित कर देना। वे लोग श्री प्रभुजी के पास पहुँचे और बूढ़े की सारी बात श्री प्रभुजी को बता दी। प्रभुजी सोचने लगे– हमारा बच्चा इस तरह से मर जायेगा। वह बूढ़ा वहाँ से चला गया था और अपनी वाक्सिद्धि को खोने के लिये पहाड़ की चोटी से गिरकर शरीर को नष्ट करने का विचार कर लिया। पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर जब वह नीचे को गिरने ही वाला था कि श्री प्रभु जी वहीं प्रकट हो गये और कहने लगे– तू अपना शरीर क्यों नष्ट करना चाहता है। वह कहने लगा– प्रभुजी ! वाक्सिद्धि को नष्ट करने के लिये एवं पुण्य–पाप से बचने के लिये ऐसा कर रहा हूँ। श्री प्रभुजी कहने लगे–उसने सिद्धि दी – हमने ले ली। हमने स्वयं छीन ली है। तेरे कहने से किसी का न भला होगा न बुरा– चाहे किसी का कहकर देख ले। हम जो चाहेंगे वह होगा, तेरे चाहने से कुछ नहीं होगा। श्री प्रभु जी उस पर प्रसन्न हो गये और कहने लगे। हमने तुझे पूर्ण भूत जयी सिद्ध बना दिया। एक बार कृपा की सिद्ध योगी बना दिया। वह बूढ़ा उस पहाड़ से फिर प्रभु जी के स्थान पर पहुँच गया। गुरुभाई सोचने लगे– यह फिर आ गया। श्री प्रभुजी कहने लगे– अरे, तुम लोग इसके लिये क्या सोच रहे हो ? यह तो सिद्ध हो गया है। यह अमर हो गया है। वे लोग कहने लगे। प्रभुजी ! इस की वाक्सिद्धि ! प्रभुजी कहने लगे– वह तो हमने छीन ली है। यह फल होता है गुरुदेव में आत्म समर्पण का ! श्री प्रभुजी ने उसे पूर्ण सिद्धयोगी बना दिया। वह भी शीशगिर के पहाड़ पर समाधिस्थ है।

सम्पादकीय–

योग एवं विकासवाद

आचार्य (डा०) रामलाल शर्मा

सृष्टि उत्पत्ति क्रम का निरूपण वेद में निम्न मंत्र से किया गया है–

हिरण्यगर्भः समवर्ततताऽग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां, कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ हिरण्यगर्भ पैदा हुए, वह समस्त प्राणियों का आश्रय था। उसी ने पृथ्वी, द्युलोक और पृथ्वी पर समस्त जीवों को धारण किया हुआ था। उस हिरण्य–गर्भदेव को छोड़कर हम किस देव की उपासना करें ?

हिरण्य का अर्थ है स्वर्ण अर्थात् जिसके गर्भ में स्वर्णमयी तेज पुंज हो वह हुआ हिरण्य गर्भ। सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा को हिरण्य गर्भ माना जाता है। भगवान सूर्य को भी हम हिरण्य–गर्भ के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

सृष्टि उत्पत्ति व विकास के सिद्धान्त को मानने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार सबसे पहले सूर्य ही था। वह सूर्य अपनी परिधि में घूमता था। चक्कर लगाते–लगाते उसमें से एक गोला उससे अलग होकर गिर गया। धीरे–धीरे सहस्त्रों वर्षो में वह ठण्डा हो गया, यही पृथ्वी बन गई। इसमें सबसे पहले जलीय एक कोशीय जीव अमीवा उत्पन्न हुआ। अमीवा युग्लीना इत्यादि एक कोशीय जीव हुए, इन्हें केवल सूक्ष्मदर्शी यंत्रों की सहायता से ही देखा जा सकता है। इसके पश्चात् बहु–कोशीय जीव हुए। जलीय जीवों में मछलियाँ उत्पन्न हुई, इसके अनन्तर जल स्थल दोनों में रहने वाले जीवों की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् सरीसृप जो पेट के बल चलने वाले जीव हैं, वे हुए , फिर पक्षी व स्तनधारी वर्ग के प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार विकास पाते –पाते बन्दर की आकृति उत्पन्न हुई। इन्हीं बन्दरों से मनुष्य का रूप सामने आया। विकासवादियों के सिद्धान्त को मानने वालों में से चार्लस डार्विन का (Evolutionary theory of Darwin) अधिक मान्य तथा सम्मत माना जाता है यह आधुनिक विकासवादियों का दृष्टिकोण है।

वैदिक मतानुसार, पहले ईश्वर एक ही था, उसने सोचा–

" एकोऽहं बहुस्याम प्रजयेय। स एक्षत् स ततोऽतप्यत्। "

उस ईश्वर ने अपने संकल्प से ही सृष्टि की उत्पत्ति कर दी।

श्री मद्भागवत पुराण में प्राणियों की उत्तरोत्तर क्रम से श्रेष्ठता बतलाई गई है।

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां, ततः प्राण भृतः शुभे।

ततः सचित्ताः प्रवरास्त, तश्चेन्द्रिय वृत्तयः।।

तत्रापि स्पर्श वेदिभ्यः, प्रवरा रस वेदिनः।

तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठा, स्ततः शब्दविदो वराः।
रूप भेद विदस्तत्र, तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठा, श्चतुष्पादस्ततो द्विपात्।।
ततो वर्णाश्च चत्वारः, तेषां ब्राह्मण उत्तमः।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो, ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकः ततः।।

अर्थात् पाषाणादि अचेतनों की अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ है उनसे भी श्वास लेने वाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनमें भी मन वाले प्राणी उत्तम और उनसे भी इन्द्रियों की वृत्ति वाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियवान प्राणियों से भी केवल स्पर्श का अनुभव करने वाले तथा उनसे रस का ग्रहण करने वाले जलीय जीव मत्स्यादि श्रेष्ठ हैं। उनसे भी गन्ध का अनुभव करने वाले भ्रमरादि श्रेष्ठ हैं। भ्रमरादि से भी शब्द ग्रहण करने वाले सर्पादि श्रेष्ठ हैं। उनमें भी रूप का अनुभव करने वाले उत्तम हैं। उनसे भी ऊपर नीचे दाँत वाले श्रेष्ठ हैं। सर्पादि बिना पैर वालों से बहुत से चरण वाले श्रेष्ठ हैं। बहुत चरण वालों से चार चरण वाले तथा चार पाद वालों से भी दो पाद वाले श्रेष्ठ हैं। मनुष्यों में चार वर्ण श्रेष्ठ हैं, उनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों में भी वेद को जानने वाले उत्तम हैं। वेदज्ञों में भी वेद का तात्पर्य जानने वाले श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार से सृष्टि क्रम में देश विधि सृष्टि में सत्व, रज व तम की न्यूनाधिक्य के कारण उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाई गई है। आधिभौतिक सृष्टि में भी "**ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्वस्थाः**" के नियमानुसार सतोगुण वाले जीव ऊपर के लोकों में रजोगुण वाले मध्य के मर्त्य लोक में तथा तमोगुण वाले पृथ्वी के नीचेके लोकों में रहते हैं। योग–दर्शन में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान् व्यासदेव जी ने समस्त संसार के प्राणियों को पाँच अवस्थाओं में बाँट दिया है। वे अवस्थायें हैं–

1. मूढ़, 2. क्षिप्त, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र, 5. निरुद्ध। इनमें मूढ़ावस्था के प्राणी वे हैं जो केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन की वृत्ति वाले हैं, पशु–पक्षी इसी वर्ग के प्राणी हैं। ये प्राणी बौद्धेय विकास शून्य होते हैं। क्षिप्तावस्था के प्राणी राक्षसादि हैं, जो पूर्ण तमोगुणी होते हैं। प्रमाद–निद्रा व आलस्य व पर –पीड़न इस अवस्था के प्राणियों का स्वभाव होता है। विक्षिप्त अवस्था के प्राणी वे होते हैं, जिनमें रजोगुण व सतोगुण दोनों रहते हैं। ये प्राणी धर्म, कर्म में विश्वास करने वाले स्वर्ग–नरक व ईश्वर के अस्तित्व में आस्था वाले हुआ करते हैं। देवगण भी इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इसके बाद की अवस्था एकाग्रावस्था है, जिसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है। '**सत्वं लघु प्रकाशक मिष्टम्**' के अनुसार सतोगुणी प्राणियों के अन्तःकरण में प्रकाश का उदय हो जाता है। "**सर्वे भवन्तु सुखिनाः**" की भावना इस वर्ग के मनुष्यों में पाई जाती है। विक्षिप्त अवस्था में आ जाने पर मनुष्य मानव कहलाने का अधिकारी हो जाता है, उसमें मानवीय गुण आने लगते हैं। धर्म और अधर्म दोनों मिले जुले रहते हैं। एकाग्र अवस्था में पहुँच जाने पर वे मानवोत्तर श्रेणी में आ जाते हैं। सत्व गुण का पूर्ण उदय हो जाने पर एकाग्रता की पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है। जिसमें, उसे सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि रूपी ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। आठ प्रकार की प्रज्ञा में ऋतम्भरा सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रज्ञा के आ जाने

पर योगी सत्य दृष्टा बन जाता है, उसकी बुद्धि में जो भी बात आयेगी वह सत्य ही आयेगी। ऐसे व्यक्ति ही किसी सिद्धान्त को सिद्धान्तित करने वाले होते हैं।

निरोधावस्था आ जाने पर चित्तवृत्तियों का बिल्कुल निरोध हो जाता है, जिसमें क्लिष्ट वृत्ति तो पूर्ण रूप से दब जाते हैं। अक्लिष्ट वृत्ति या शेष रहती है, जो हमें विवेक मार्ग में ले जाने के लिए सहायक होते हैं। चित्त के निरोध परिणाम में व्युत्थान संस्कारों का क्षय तथा निरोध संस्कारों का उदय होता रहता है। " **तज्ज: संस्कारों अन्य संस्कार प्रतिबन्धी** " के अनुसार समाधि के जो संस्कार होते हैं, उनको भी प्रज्ञाकृत संस्कार हटाते व दबाते रहते हैं। अन्त में पर–वैराग्य के पूर्णतया दृढ़ हो जाने पर चित्त की समस्त वृत्तियाँ अपने कारण भूत अव्यक्त या परा–प्रकृति में लय हो जाती हैं। पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही निर्बीज समाधि है। जिसके निरन्तर दृढ़ता हो जाने पर योगी को कैवल्य लाभ हो जाता है।

योग–दर्शन में वर्णित इन पाँच अवस्थाओं में मूढ़ और क्षिप्त अवस्था के प्राणी योग में प्रवेश नहीं करते, क्योंकि इनका स्वभाव ही इस प्रकार का होता है कि वे इस ओर आना ही नहीं चाहते, क्योंकि इनमें विवेक बुद्धि नहीं होती है।

विक्षिप्तावस्था के प्राणी योगारूढ़ होना चाहते हैं। उन लोगों के लिए योग–दर्शन में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान तथा श्रद्धा–वीर्य–स्मृति–समाधि और प्रज्ञा आदि उपाय हैं। इसके साथ–साथ अभ्यास और वैराग्य भी नितान्त आवश्यक है। उत्तरोत्तर भूमिका को प्राप्त करने के लिए दीर्घकालिक निरन्तर व तप ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा के साथ किया गया अभ्यास दृढ़ भूमिका को प्रदान करने वाला होता है। तप–स्वाध्याय आदि अंगों का ठीक प्रकार से परिपालन करने पर साधक के चित्त के रजोगुण व तमोगुण दूर हो जाते हैं तथा सतोगुण का उद्‌भव हो जाता है।

सतोगुण वृद्धि के दो उपाय हैं– एक तो हठयोग द्वारा जिसमें विभिन्न आसन अष्टविध प्राणायाम, बन्ध एवं मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है, जिससे इन्द्रियों के मल जल जाया करते हैं तथा पूर्णरूपेण नाड़ी–शोधन हो जाता है। नाड़ी–शोधन हो जाने पर चित्त की एकाग्रता की योग्यता बढ़ जाती है। क्योंकि नाड़ियाँ ही चित्त की प्रसार भूमि है। प्राणायाम से " **ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्** " अर्थात् प्रकाश के रास्ते में जो आवरण है उसका क्षय हो जाता है।

दूसरा उपाय है मनोलय का जो हठयोग के उपाय को छोड़कर (अनाधिकारी होने से) राजयोग व ध्यानयोग का अभ्यास करते हैं।

उनको भी सतोगुण की वृद्धि से एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। गुरुदेव प्रदत्त मंत्र का निरन्तर श्वास–प्रश्वास से जाप तथा उनके बताये गये शरीरगत चक्रों का ध्यान करना होता है। गुरु–मंत्र के जाप से अन्तःकरण के मल–आवरण दूर हो जाते हैं, जिससे सतोगुण की वृद्धि होती है। श्वास–प्रश्वास द्वारा अजपा गायत्री मंत्र का निरन्तर अभ्यास ही सर्व–श्रेष्ठ है।
शास्त्रों में अजपा की बड़ी महिमा कही गई है –

प्रथमा प्रतिमा पूजा, जपः स्तोत्राणि मध्यमा।

ध्यान पूजा उत्तमा, सोऽहं हि उत्तमोत्तमाः।।

उपरोक्त श्लोक में क्रम के उत्तरोत्तर साधनों की श्रेष्ठता बताई गई है।

योग एक ऐसा उपाय है जिससे मनुष्य जीव–सत्ता को लाँघ कर ईश्वरीय सत्ता को प्राप्त कर लेता है। शास्त्रों में जीवात्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं– सुख–दुःख, राग–द्वेष, इच्छा–प्रयत्न और अज्ञान ये सब जीवात्मा में विद्यमान होते हैं। अज्ञान–जन्य–राग–द्वेष आदि क्लेशों से बँधा होने के कारण वह पशु कहा जाता है।' मनुष्यो देवाना पशु ' कहा गया है, क्योंकि देवताओं में कुछ विशिष्ट ताकतें होती हैं, जिससे वह मनुष्य पर शासन करते हैं। देवताओं में दूर–दर्शन, दूर–श्रवण तथा अष्ट–सिद्धियाँ स्वाभाविक होती हैं, वे वर–शाप दे सकते हैं।
योग–दर्शन में ईश्वर का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् जो क्लेश कर्म–विपाक एवं आशय से संस्पृष्ट नहीं है वह ईश्वर है अर्थात् इनमें यह क्लेशादि कभी भी नहीं होते हैं। ईश्वर के इस लक्षण से जीवका लक्षण भी हो गया। जीव क्लेश–कर्म–विपाक से परामृष्ट है अर्थात जीव में यह क्लेश–कर्म आदि सदा लगे हुए हैं। योगियों का परम लक्ष्य है क्लेश कर्मादि बन्धनों को काटकर ईश्वरीय सत्ता में आ जाये। प्राणायामादि के द्वारा या गुरु–प्रदत्त मंत्र से एवं ध्यानयोग के अभ्यास द्वारा संयम अवस्था को प्राप्त हो जाने पर योगी योग–दर्शन के विभूति पाद में वर्णित सभी सिद्धियों व विभूतियों को प्राप्त कर लेता है। जिनके प्राप्त हो जाने पर अष्ट–सिद्धियाँ एवं दूर–दर्शन, दूर–श्रवण आदि सिद्धियाँ योगी में प्रादुर्भूत होने लगते हैं। वह करोड़ों मील दूर का देखने वाला, करोड़ों मील दूर के शब्द को सुनने वाला बन जाता है –

ततः प्रातिभ श्रावण आदर्श स्वाद वार्ता जायन्ते।

श्वेताश्वरोपनिषद् के इस मंत्र को चरितार्थ करने वाला बन जाता है।

अपाणिपादौ जवनो गृहीता स पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

योग–दर्शन में–

ततो मनोजवित्वम् विकरणभावः प्रधानजयश्च।

योगी का मन जहाँ–जहाँ पहुँचता है, तत्काल वहाँ शरीर भी पहुँच जाता है। मन के वेग के साथ शरीर का पहुँचना मनोजविता नाम की सिद्धि है। विकरण भाव का अर्थ है बिना ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि को ग्रहण करना " **स पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः** " की स्थिति प्राप्त हो जाती है। प्रधानजय का अर्थ है सम्पूर्ण स्थूल व सूक्ष्म भूतों पर विजय प्राप्त कर लेता। इस सिद्धि के आ जाने पर योगी सम्पूर्ण रूप से प्रकृति पर शासन करने वाला हो जाता है। जो पहले प्रकृति से शासित था वह अब प्रकृति पर शासन करने वाला बन जाता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा की भी दृढ़ स्थिति हो जाती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उसे धर्ममेघ नाम की समाधि मिल जाती है। जिसके आ जाने पर सर्व ज्ञातृत्व और सर्वाधिष्ठातृत्व की योग्यता आ जाती है। हृदय–ग्रन्थि व अज्ञान–ग्रन्थि विदीर्ण हो जाती है। " **भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यते सर्वसंशयः क्षीयते चास्य कर्माणितस्मिन् दृष्टे परावरे।** "

उस परावर आत्म–दर्शन के हो जाने पर क्लेश कर्म दूर हो जाने पर, आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता। तब वह ईश्वर कोटि में आ जाता है।

कुछ दर्शनकार मानते है कि जीव कभी भी ईश्वर कोटि में नहीं पहुँचता है। परन्तु योग एवं वेदान्त–दर्शन के अनुसार वह उसी अखण्ड तेज में विलीन हो जाता है। घट के टूट जाने पर जैसे घटाकाश, महाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार से सूक्ष्म व कारण के भी अपने कारण में लय हो जाने पर त्रि–शरीरी घट के टूट जाने पर जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता है।

योग से ही मनुष्य का शरीर मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध–मुद्रायें तथा प्राणायाम द्वारा पूर्ण स्वस्थ रहा जाता है। रोगाक्रान्त हो जाने पर उनमें मुक्ति भी यौगिक साधनाओं से पाई जाती है। आसन, बन्ध, मुद्रायें और अष्टविध प्राणायाम द्वारा प्राण बलिष्ठ व तेपस्वी हो जाते हैं। प्राण जीवनी शक्ति है व जीवन का मूलाधार है। धारणा–ध्यान के अभ्यास द्वारा मन की एकाग्रता के पा जाने पर मन की शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो जाया करती हैं।

जप–तप, वैराग्य एवं ध्यानयोग द्वारा बौद्धिक विकास पूर्णता पा जाया करता है, जिससे अणिमादि ऐश्वर्यो का प्रादुर्भाव हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है, जिसमें दृढ़ता पा जाने पर प्रकृति पुरुष–विवेक हो जाता है, जो कैवल्य का दाता है।

अतः योग के द्वारा ही मनुष्य अपने जीव–सत्ता को छोड़कर ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है।

सद्गुरु के चरणों में

जब मनुष्य सद्गुरु के पास पहुँचते हैं और उनके चरणों को अपने हाथों से छूते हैं तो वे अपने संस्कारों का बोझ उन पर डाल देते हैं। जिस प्रकार साधारण मनुष्य चलते फिरते अपने पावों पर संसार की धूति संचरित करता है उसी प्रकार सद्गुरु सारे संसार भर के संस्कारों को बटोरता है। सद्गुरु के चरणों में आत्म समर्पण करना आध्यात्मिक जीवन की महत्वपूर्ण शर्त है।

–श्री मेहेरबाबा

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

तपोधन महामुनि पतंजलि

श्री गौतम

भारतीय संस्कृति, परम्परा और ज्ञान–विज्ञान के जो आधार हैं, उनमें पतंजलि का स्थान ऊँचा है। व्यास, पाणिनि आदि की तरह पतंजलि को भी आरम्भ में नमन किया जाता है। योगदर्शन के प्रणेता, व्याकरण महाभाष्य के कर्ता और आयुर्वेद की चरक–परम्परा के जनक के रूप में चित्त, वाणी और शरीर के मल को दूर करने वाले मुनिप्रवर के लिए भर्तृहरि ने अपनी वाक्यपदीय के आरम्भ में लिखा है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।

योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।

योग से चित्त का, पद (व्याकरण) से वाणी का और वैद्यक से शरीर का मल जिसने दूर किया उस मुनिश्रेष्ठ पतंजलि को मैं अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करता हूँ।

भारत में स्थूल इतिहास लेखन का रिवाज नहीं रहा है। इसलिए पतंजलि की स्थूल जानकारी खास मिलती नहीं। उनके ग्रंथों से या आख्यायिकाओं से कुछ जानकारी बताई जाती है, जिसकी सत्यासत्यता के विषय में निर्णय करना बड़ा कठिन है।

पतंजलि गोनर्द ग्राम के रहने वाले थे और उनकी माता का नाम गोणिका था। उनके पिता के नाम की जानकारी नहीं है। यह गोनर्द कहाँ है ? कहना कठिन है; इस बारे में विद्वानों में, मतभेद है। इतना ही कहा जा सकता है कि यह स्थान उत्तर भारत में कहीं होना चाहिए, क्योंकि कात्यायन मुनि को पतंजलि ने 'यह दाक्षिणात्य है ' ऐसा कहा है।

ईसा के पहले दूसरी शती, में पतंजलि का समय माना जाता है। मौर्य सम्राट बृहद् का वध करने वाले पुष्यमित्र 'शुंग के जमाने में पतंजलि थे, दोनों में मित्रभाव भी था; ऐसा महाभाष्य पर से सूचित होता है।

पतंजलि के जन्म के विषय में किंवदन्ति है कि एक बार श्रीविष्णु शेषशय्या पर लेटे थे। उस समय श्री शंकरजी का तांडवनृत्य शुरु हुआ। उन्हें नींद लगी नहीं थी इसलिए श्रीविष्णु का ध्यान उस ओर गया। उस नृत्य को देखने से भगवान् विष्णु को इतना अधिक आनन्द हुआ कि वह आनन्द उनकी देह में समाता नहीं था, तो उनकी देह बढ़ने लगी। देह का यह भार शेष को असह्य होने लगा। और वे अपने सहस्त्र मुखों से फूत्कार करने लगे। शेष की हालत देख लक्ष्मीजी घबड़ा गयीं। उन्होंने विष्णु को हिलाकर जागृत किया। विष्णु के जागृत होते ही उनकी देह यथावत् हो गई और शेष ने आराम की सांस ली। शेष ने विष्णु भगवान से पूछा, " आज आपने मेरी परीक्षा लेने को सोचा था क्या ? " तब भगवान ने शिव के तांडवनृत्य की कलात्मक श्रेष्ठता उन्हें समझाई। शेष ने कहा, ' मैं भी वह नृत्य देखना चाहता हूँ। ' भगवान ने कहा, " फिर तो तुम एक बार पृथ्वी पर जन्म लो। तब तुम्हें वह नृत्य देखने को मिलेगा। " तदनुसार शेष

अवतार लेने निकले। गोणिका पुत्र प्राप्ति के लिए तप कर रही थी। उसे ही शेष ने मातृ रूप में स्वीकार किया। वह जब अंजलि भर सूर्य को अर्ध्य देने लगी तब शेष सूक्ष्म रूप लेकर उसकी अंजलि में आ गये। गोणिका द्वारा अंजलि का पानी नीचे डालते ही वे बालक रूप में उसके सामने खड़े हो गये। गोणिका ने उसे पुत्र मानकर उठा लिया और कहा, " तुम्हारा मेरी अंजलि से पतन हुआ है इसलिए तुम्हारा नाम पतंजलि ' रखती हूँ।

पतंजलि ने बाल्यावस्था में ही सारा अध्ययन पूर्ण करके तप करना शुरु किया। तब शिवजी ने उसे चिदंबर क्षेत्र में अपना तांडव–नृत्य दिखाया और उसे आदेश दिया कि व्याकरण शास्त्र पर लिखो। उसी चिदंबर क्षेत्र में पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों पर और कात्यायपन के वार्तिकों पर विस्तृत भाष्य लिखा। उसे ही महाभाष्य कहते हैं।

महाभाष्य की कीर्ति सुनकर हजारों विद्यार्थी आने लगे, तो पतंजलि परदे के पीछे बैठकर सहस्त्र शिष्यों को अपने सहस्त्र मुखों से एक ही साथ सिखाने लगे। विद्यार्थियों को लगा कि ये एक साथ हजारों को कैसे सिखा सकते हैं? तो उन्होंने परदा हटाया। तब दर्शन हुआ कि सहस्त्र मुख शेष के रूप में पतंजलि उन्हें सिखा रहे हैं। लेकिन शेष का तेज इतना उग्र था कि वे उस तेज से भस्म हो गये। केवल एक शिष्य बचा, जो उस समय पानी लेने बाहर गया हुआ था। पतंजलि ने उसे पूरा भाष्य सिखाया। "लायक शिष्यों को अब तुम सिखाओ। " ऐसा कहकर चिदंबर से चलकर वे गोनर्द में आये। वहाँ अपनी माता का दर्शन कर वे अपने शेष में लीन हो गये।

महामुनि पतंजलि के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं–

(1). **व्याकरण महाभाष्य–** पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रपाठ और कात्यायन के वार्तिकों पर यह भाष्य लिखा है। संस्कृत के गद्य साहित्य में यह अद्वितीय गद्य माना जाता है। श्री शंकराचार्य से लेकर अनेक आचार्यो ने अनेक सूत्रग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं, लेकिन वे सब 'भाष्य' कहे गये। पतंजलि का भाष्य 'महाभाष्य' कहा जाता है। महाभाष्य का अर्थ ही 'पातंजलभाष्य ' होता है। इस भाष्य पर भर्तृहरि, कैयर आदि की कई टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। पाणिनि को पतंजलि ने ही सर्व प्रथम 'भगवान पाणिनि' कहा है।

व्याकरण महाभाष्य गम्भीर और सुस्पष्ट अर्थ प्रकट करने वाले छोटे–छोटे प्रासादिक वाक्यों का गद्य–ग्रन्थ है। 'कर्ता' की व्याख्या करते हुए पतंजलि कहते हैं, 'स्वतन्त्रः कर्ता'। इस सूत्र का उद्धरण विनोबाजी कई बार देते हैं। तत्त्वज्ञानी लोग भी इस भाष्य–ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं। व्याकरण जैसा नीरस और शुष्क विषय भी उन्होंने रसमय बना दिया है। पतंजलि के कारण व्याकरण – शास्त्र को भी दर्शन–शास्त्र की बराबरी में बैठने का सौभाग्य मिला है। शब्द–ब्रह्म ही सृष्टि का आदि कारण है ऐसा पतंजलि ने माना है।

(2). **योगसूत्र–** पतंजलि के ग्रन्थों में यह सर्वाधिक प्रसिद्ध है। चार पाद और 195 सूत्रों में सम्पूर्ण योग–दर्शन ग्रथित किया गया है। मानस–शास्त्र का इतना सांगोपांग और सूक्ष्मतम विवेचन और कहीं भी देखने को नहीं मिलता। प्रथम समाधि पाद में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (चित्त की वृत्तियों का निरोध यानी योग) से आरम्भ कर समाधिशास्त्र की रूप रेखा बतायी है। दूसरे साधना पाद में आत्म–साक्षात्कार के लिए अष्टांगयोग साधन क्यों करना चाहिए, इनकी मीमांसा करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन पाँच अंगों का विचार किया है।

तीसरे विभूति पाद में धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अंतरंग साधनों का विवेचन कर उस निमित्त से अनेकविध ज्ञान–सिद्धि व क्रियासिद्धि कैसे प्राप्त होती हैं, इसका विस्तृत विवरण दिया है और अन्त में सर्वश्रेष्ठ विवेकजन्य ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, यह बता कर उसका स्वरूप समझाकर " **सत्वपुरुषयो: शुद्धि साम्ये कैवल्यम्।** " (चित्त और आत्मा की साम्य–शुद्धि कैवल्य है) ऐसा उपसंहार किया है।

चौथे कैवल्य पाद में सिद्धि के निमित्त खड़े हुए कुछ मुद्दों का विवेचन करके जीवमुक्ति का विस्तार से वर्णन किया है और उसका पर्यवसान विदेहमुक्ति में कैसे होता है यह बताकर ' **स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्ते:** ' ऐसा कह कर समाप्त किया है।

योग–सूत्रों की महिमा अपार है। दर्शन- शास्त्री उसे एक स्वतन्त्र–दर्शन ही मानते हैं।

(3). **चरक–संहिता का प्रतिसंस्करण–** वैद्यक–शास्त्र का ग्रन्थ 'चरक–संहिता' का पतंजलि ने प्रतिसंस्करण किया है, ऐसा माना जाता है।

" पातंजलिवार्तिक " नाम के एक ग्रन्थ का भी जिक्र मिलता है। कृष्ण–यजुर्वेदीय चरक शाखा का पतंजलि ने आयुर्वेद की मूल आत्रेय–संहिता का संस्करण किया, इसलिए उसे 'चरक–संहिता' नाम मिला ऐसा माना जाता है।

और भी कुछ ग्रन्थ पतंजलि के नाम पर चलते हैं, लेकिन उनके बारे में निर्णय करना कठिन है।

ऐसे महामुनि को हम भी " प्रांजलिरानतोऽस्मि " कहें।

क्रोध मूर्खता से शुरु होता है और पश्चात्ताप पर समाप्त होता है — पैथागोरस

चोरी का जन्म संचय से होता है। — विनोबा

ब्रह्मचर्यमय जीवन परम पुरुषार्थमय जीवन है। — उड़िया बाबरा

कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का एक्य ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। — योगी अरविन्द

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

ऋषि - दर्शन

आचार्य श्री विनोबा भावे

यह समझने की बात है कि सृष्टि में जो आकृतियाँ होती हैं, वे भी गुण–दोषमय होती हैं। कोई उत्तम उद्यान है, सुन्दर पुष्प वाटिका है, जहाँ ठीक ढंग से वृक्षों की काँट–छाँट हुई है, ठीक फासले पर वृक्ष लगाए हैं, तो वह देखकर मनुष्य को आनन्द होता है। कोई घना जंगल हो टेढ़ा–मेढ़ा, तो वह देखकर भी मनुष्य को आनन्द होता है। उसको दोनों में सौन्दर्य दीखता है। उद्यान और जंगल एक दूसरे के विरोधी हैं, तो दोनों में सौन्दर्य का अनुभव क्यों आया? क्योंकि भगवान् का एक गुण उसमें और एक गुण उसमें प्रकट हुआ। उसमें स्वच्छन्दता है, स्वातन्त्र्य है।, जिस पेड़ को जिधर बढ़ने की इच्छा है,उधर बढ़ा। तो पूर्ण स्वातन्त्र्य का, सहजता का गुण उसमें है और इधर व्यवस्थितता है, समता है। यह भी गुण, वह भी गुण। यह देखकर भी आनन्द, वह देखकर भी आनन्द। सामवेद का एक मंत्र मैं बहुत दफा गाया करता हूँ :–

बसन्त इन्नु रन्त्यो, ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।

वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः।।

उसका तर्जुमा मैंने हिन्दी में किया :–

बसन्त रमणीय है, ग्रीष्म रमणीय है।

वर्षा-शरद-हेमन्त-शिशिर रमणीय है।।

ऋषि का दर्शन है। उसको छः ऋतु सबके सब रमणीय मालूम होते हैं। हम अक्सर कहते हैं– बसन्त रमणीय है, ग्रीष्म तकलीफ–देह है, हेमन्त ठीक है, वर्षा ठीक नहीं। लेकिन ऋषि को सब ऋतु रमणीय प्रसन्न मालूम हुई। क्योंकि उसने हर एक का एक–एक गुण ले लिया।

बचपन में हमने 'बालमित्र' नाम की एक पत्रिका पढ़ी थी। उसमें एक कहानी थी। मुन्ना बगीचे में गया। वहाँ सुन्दर फूल खिले थे। मुन्ना को बहुत आनन्द हुआ। वह कहने लगा, हमेशा यदि बसन्त ऋतु रहे। बाप ने कहा– बेटा ! यह बात तुम अपनी कापी में लिख रखो। ठण्ड के दिन आए। मुन्ना गेहूं की बाली खाने के लिए खेत में गया। उसने कहा– हमेशा गेहूं की बाली खाने को मिले, तो कैसा आनन्द होगा। बाप ने कहा– बेटा ! यह तुम अपनी कापी में लिख रखो। इस तरह मुन्ना हर ऋतु के बारे में कहता रहा। 'बाल–मित्र' एक फ्रेंच किताब का तर्जुमा है। सामवेद के मंत्र के समान वह कहानी है। हर ऋतु में गुण भरे पड़े हैं। हमें उस ऋतु के लायक बनना चाहिए और गुण खींचना चाहिए।

गुण चुम्बक-शक्ति= ध्यान-शक्ति

इस तरह दुनिया गुणदोषमय है। उसमें से गुण खींचना है। जमीन पर अनेक प्रकार के कण पड़े हैं, उनमें लोहे के भी कण हैं। लौह चुम्बक लोहे के कणों को खींच लेगा। उसी तरह गुण

चुम्बक गुण को खींचेगा।

लेकिन गुण ? क्या दोष क्या ? यह भी सवाल है। आप जिस चीज को मैला गन्दा कहेंगे, वह चीज मक्खी को पसन्द आएगी। उसके लिए उससे बेहतरीन खुराक नहीं होगी, तो इसमें मतभेद होगा। आपकी अनुकूलता–प्रतिकूलता के कारण आप एक को गुण मानेंगे, एक को दोष। दुनिया के ख्याल में कौन सा गुण और कौन सा दोष है, यह तय नहीं हो सकता। इसलिए आप जो गुण चाहते हैं, वह खींच लेना चाहिए। वह खींचने की शक्ति आ गई, तो समझना चाहिए कि ध्यान–शक्ति आ गई ' अन्यथा आप चाहें सिद्धासन लगाकर बैठें, चाहे आँखें बन्द कर बैठें, वह ध्यान–शक्ति नहीं होगी वस्तु मात्र से गुण खींचने की शक्ति आयेगी, तभी ध्यान–शक्ति प्राप्त होगी।

एक सवाल पूछा गया है कि आपने ध्यान का अर्थ सर्वत्र गुण–चिंतन बताया। वह ठीक है, लेकिन भागवत में है कि कोई एक गोपिका दही बेचने निकली और 'दही लो जी, दही', के बदले 'गोविन्द लो जी, गोविन्द' बोल गई। इस प्रकार हरि दर्शन करें, क्या ध्यान का यह प्रयोग ठीक होगा?

बात तो ठीक है, लेकिन यह सवाल पूछा जाएगा कि 'गोविन्द' कौन ? फलाने का बाप ? फलाने का बेटा ? फलाने का भाई? उत्तर मिलेगा– " सत्य प्रेममय, नारायण, करुणामय। " कौन नारायण करुणामय ? एक अव्यक्त मूर्ति (गुणमय) और उसके गुणों का एक–एक अंश एक–एक को प्राप्त है – थोड़ा हमें, थोड़ा औरों को। किसी को प्रेम का अंश, किसी को सत्य का अंश बाँटा है। लेकिन नाम भले गोविन्द हो, लेकिन उसका अर्थ है करुणामय परमेश्वर। मतलब, वह गुण ही होता है।

हर एक में हम भगवान को देखें, इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ हर एक का गुण–ग्रहण होना चाहिए। तो फिर भगवान का ग्रहण नहीं हुआ, तो और क्या हुआ? आज ही मुझसे कुछ लोगों की बातें हो रही थीं कि आपस में दिल नहीं खुला। इसके सामने चोरी उसके सामने चोरी। मतलब हम चोर हैं? सारा छिपा हुआ मामला; क्यों नहीं खुलता है दिल ? क्योंकि खतरा मालूम होता है। अगर सामने वाले में गोविन्द का दर्शन हुआ, तो उसका अर्थ यह है कि सामने वाले में गुण का दर्शन हुआ। फिर वहाँ खतरा मालूम नहीं होगा, दिल खुल जायगा। भक्त का लक्षण है – " आपण व्हावें एकीकड़े, देव कलेवरी जोड़े "– हम इस शरीर को खाली कर दें तो भगवान् उसमें रहेगा। शरीर में हम ही खचाखच भरे रहेंगे, तो उस हालत में भगवान् को जगह नहीं रहेगी। सर्वत्र गोविन्द–दर्शन का अर्थ है सर्वत्र प्रेम भरा है, करुणा भरी हो, उसका दर्शन। चीज पड़ी है। वह पाने के लिए हमें अपने को खाली करना पड़ेगा। बापू कहा करते थे कि हमें 'शून्य बनना' है। कठिन है। अच्छा है वह शब्द भी। लेकिन मुझे 'खाली करो ' शब्द विशेष अर्थ प्रकाशित करता है। खाली करो, मंदिर खोलो, तो हर एक का गुण ग्रहण होगा।

गुण–दोष दोनों होते हैं। दोष माया का है, गुण भगवान् का। आँख को माया एक–दम दिखती है। इन्द्रियाँ हैं, वे **स्वभावत: विषयाभिमुख** हैं।

आँख खुल गई, तो बाहर का विषय एक–दम अन्दर बैठ गया। अनुकूल–प्रतिकूल प्रक्रिया हुई। इसलिए इन्द्रियों से जो ज्ञान मिलता है, उससे सावधान रहना चाहिए। वह सच्चा ज्ञान नहीं है। वह आकार का ज्ञान है। हम कहते हैं कि हमने फलाने को देखा। यह गलत है। हमने

देखा, उस आकृति को देखा मनुष्य तो अव्यक्त है। उसको हम नहीं देख सकते और आँखों से जो देखा जाता है, उसके कारण हमारे अभिप्राय बनते हैं। इसलिए सर्वत्र गुण देखने का प्रयत्न करेंगे। तो गुणमय भगवान दिखने लगेगा। भगवान गुणमय है।' मी गुण सम्पन्न, हेचि लक्षण'– मैं गुण सम्पन्न हूँ, यही लक्षण है। उनका लक्षण ही यह है। इसलिए जिन्होंने ध्यान किया कि सर्वत्र गोविन्द है, उन्होंने सर्वत्र गुणमय मंगलमय दर्शन किया, ऐसा अर्थ होगा।

उस मंगलमय दर्शन की खूबी यह है कि उससे परिवर्तन होता है। वह चीज हृदय को छूती है। एक बच्चा हम पर अत्यन्त विश्वास रखकर हमारे पास आ जाए, तो हम उसको ठग नहीं सकते। बच्चे को ठगने की प्रेरणा सामान्यतया नहीं होती, क्योंकि वह पूरी श्रद्धा रखकर आता है। फिर भी कुछ लोग बच्चों को भी ठगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि बच्चों का पूर्ण श्रद्धावान होना ज्ञान–मूलक नहीं अज्ञानमूलक है। इसलिए तुकाराम ने कहा है –' **जाणोनी नेणतें करीं माझेंमन।** 'मेरे मन को ज्ञानी करके अज्ञानी कर, यानी ज्ञानपूर्वक अज्ञान। अगर ऐसा हो कि पूर्ण श्रद्धा ज्ञानमूलक है, कोई ठग नहीं सकता। फिर कोई ठगे यह असम्भव है। मेरा विश्वास है कि ऐसी श्रद्धा बनी रहे, तो चित्त पर भार नहीं रहेगा और उससे हम जितना चाहते हैं, उससे कई गुना ज्यादा परिणाम आयेगा।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

शक्ति–एक वैज्ञानिक व्याख्या

श्री राजेन्द्र बिहारीलाल जी

शक्ति के बिना जीवन असम्भव है। भोजन पचाने, चलने–फिरने, सोचने–विचारने, कोई भी काम करने– यहाँ तक कि दिल की धड़कन तक के लिए शक्ति चाहिए। एक ओर सारी सृष्टि भगवान की अनन्त शक्ति का चमत्कार है तो दूसरी ओर मनुष्य भी अपनी अल्प शक्ति का प्रयोग करके दुनिया में बड़े–बड़े काम कर सकता है और परमात्मा तक को प्राप्त कर सकता है। हिन्दू–धर्म शक्ति का उपासक है और दुर्बलता को दूर करना ही उसका आदर्श है।

प्राचीन काल से ही मनुष्य शक्ति की खोज में लगा है। भाँति–भाँति की शक्तियों का अध्ययन भौतिक विज्ञान का विशेष विषय है। वैज्ञानिकों ने कई प्रकार की ऊर्जा का अनुसंधान किया है। जैसे ताप, प्रकाश, बिजली, गति, चुम्बकत्व, गुरुत्वाकर्षण, जीवनी–शक्ति और चेतना आदि। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि विद्युत तथा गुरुत्वाकर्षण की शक्तियाँ सर्वव्यापी हैं। वे कहीं प्रकट हैं तो कहीं अदृश्य, कहीं क्रियाशील हैं तो कहीं सुषुप्त रूप में। उदाहरण के लिए समस्त अन्तरिक्ष में और प्रत्येक जीवित प्राणी के शरीर में बिजली विद्यमान रहती है।

दूसरी अद्भुत बात यह है कि सभी शक्तियाँ अनन्त हैं। कोई नहीं जानता कि सारे संसार में कुल मिलाकर कितनी बिजली, कितना ताप और कितनी गति की शक्ति है। ये शक्तियाँ सदा से चली आ रही हैं और सदा चलती रहेंगी। भौतिक शक्तियों में भी सर्वव्यापिता और सर्वसमर्थता के ईश्वरीय गुण हैं।

तीसरा विचित्र तथ्य है कि विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ अलग–अलग होते हुए भी एक–दूसरे से परिवर्तित की जा सकती हैं। ताप से बिजली तथा गति और बिजली से ताप, प्रकाश, गति तथा चुम्बकत्व पैदा किया जा सकता है। वैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया है कि शक्ति को द्रव्य में और द्रव्य को शक्ति में बदला जा सकता है। इससे यह क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्माण्ड में जड़ या चेतन जो कुछ भी है– द्रव्य, ऊर्जा, पत्थर, पेड़, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवी, देवता, बुद्धि, भावना और विचार सबका उद्भव एक ही स्त्रोत से हुआ है, सब विभिन्न रूपान्तर हैं एक ही चिन्मय शक्ति के जिसे परमात्मा कहते हैं। चर–अचर सभी भूत परमात्मा के ही छोटे–बड़े प्रतीक हैं, परमात्मा में ही ओत–प्रोत हैं, परमात्मा की ही झलक दिखाते हैं, परमात्मा में से निकले हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं। यही वेदान्त का मूल सिद्धान्त है, जिसे हमारे ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले खोज निकाला था, जिसका समर्थन आज का विज्ञान पूरी तरह करता है।

एक का अनेक में परिवर्तन कुछ अजीब सा लगता है, किन्तु इसका एक बड़ा सुन्दर उदाहरण हमारे शरीर में ही मिल जाता है। मनुष्य जिस भोजन, पानी और हवा का सेवन करता

है, वह पेट में पचकर रस या रक्त बन जाता है। वही रक्त शरीर में जगह–जगह पहुंचकर अनेक अंगों और शक्तियों का रूप धारण कर लेता है, जैसे हड्डी, मांस, बाल, नाखून, सूँघने, सुनने, बोलने और विचारने की शक्ति।

हिन्दू धर्म की यह विशेषता है कि इसने भगवान की सत्ता को कई विभागों में बांट दिया है और हर विभाग का एक अलग अध्यक्ष नियुक्त किया है। इसके लिए अनेक देवी–देवताओं की रचना की गई है, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, यमराज, कुबेर, इन्द्र तथा सूर्य। देवियों में प्रमुख महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई विभिन्न रूप और गुणवाली देवियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे– वैष्णवी देवी, मीनाक्षी देवी, चामुण्डा देवी तथा कामाख्या देवी।

मनुष्य के पास कई प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, जैसे शरीर की, बुद्धि की, विद्या की और तपस्या की।

दसमुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई।।

कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता।।

इतनी अदभुत शक्ति पाकर भी रावण अपनी दुर्बुद्धि के कारण राक्षस से महाराक्षस बन गया। यह शक्ति का दुरुपयोग था, जैसे जिस अग्नि से खाना पकता है और रेल –गाड़ियाँ तथा जहाज चलते हैं, वही अग्नि घरों और अन्य सम्पत्ति को भस्म कर सकती है। विज्ञान की शक्ति ने आज एक ओर अनेक सुख–साधन जुटाये हैं, तो दूसरी ओर मनुष्य के विनाश के लिए भाँति–भाँति के अस्त्र–शस्त्र और मादक पदार्थ भी तैयार कर दिये हैं।

किसी व्यक्ति की शक्ति अच्छी है या बुरी– यह इस बात पर निर्भर है कि वह उस शक्ति का कैसे प्रयोग करता है। शक्ति स्वयं नैतिक दृष्टि से तटस्थ या उदासीन है। गहरे चिन्तन और मनन के बाद हमारे शास्त्रकार इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भगवान की शक्ति, जिसे प्रकृति कहते हैं, तीन गुणों वाली होती है– सत्त्व, रजस् और तमस्। गीता ने यह भी बताया है कि सृष्टि की सभी वस्तुएँ इन्हीं तीनों गुणों से रंगी हुई हैं (18/40)। सत्त्वगुणी पुरुष उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुणी मध्य में ही रहते हैं और तामसी पुरुष अधोगति को प्राप्त होते हैं।(14/18)

मनुष्य की शक्ति जो भगवान की शक्ति का अल्पांश है, इन्हीं तीनों गुणों से प्रभावित रहती है और वही गुण धारण कर लेती है जिसका अनुसरण वह व्यक्ति अपने कार्यों में करता है। सात्विक कार्यों में लगायी हुई शक्ति सात्विक, राजस कार्यों में उपयोग की हुई राजस और तामस कार्यों में लगायी हुई शक्ति तामस होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्य के सारे कामों को तीन श्रेणियों में बाँटा है– सात्विक, राजसिक और तामसिक। भागवत में उनकी उद्‌घोषणा है– ' जो भी काम मेरे लिए फलेच्छा छोड़कर (अथवा दूसरों की भलाई के लिये) किये जाते हैं, वे सात्त्विक होते हैं। जो काम फलेच्छा रखकर (अथवा अपने स्वार्थ के लिये) किये जाते हैं, वे तामस होते हैं।

कहीं यह भ्रम न पैदा हो जाय कि पूजा, ध्यान, जप आदि धार्मिक क्रियाएँ सदा पावन और सात्विक होती है, इसलिये श्रीकृष्ण ने सारे धार्मिक कार्यों को तीन कोटियों में विभाजित किया है (गीता 17/17–16) और यह स्पष्ट कर दिया है कि धार्मिक कार्य कल्याणकारी होते हैं

जब ये दूसरों या समाज की भलाई के लिए किये जाँए। इस विषय में किसी प्रकार की कोई शंका न रह जाए इसलिये उन्होंने गीता में और भी प्रबल शब्दों में कहा है– अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ट है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ट है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ट है। ध्यान से तत्काल परम शान्ति की प्राप्ति हो जती है (12/12)। इसका यह अर्थ नहीं कि ध्यान या जप न किया जाय। भली–भाँति पूजा कीजिये, जितना हो सके ध्यान, जप और कीर्तन कीजिए, किन्तु उन सबके फल को त्यागकर उन्हें सात्त्विक बनाइये। कर्म–फल–त्याग समस्त साधना–क्रम का अन्तिम चरण और पूरक तथा साधना को सात्त्विक बनाने के लिए अनिवार्य है। तात्पर्य यह कि उपासना तथा अन्य सत्कार्यों के फलस्वरूप धन, बल, बुद्धि, ज्ञान, पद, प्रतिष्ठा, मान, बड़ाई जो कुछ भी मिले उसे बड़ी विनम्रता, उदा.ता और प्रेम के साथ जनता–जनार्दन की सेवा अथवा परोपकार में लगाना चाहिये।

बैकुण्ठ निवासी भगवान की आराधना तभी परिपूर्ण और सार्थक हो सकती है जब उसके साथ घट–घटवासी भगवान अर्थात्– विश्वरूपी श्रीकृष्ण की सेवा को जोड़ दिया जाए।

शक्ति की उपासना सभी के लिये आवश्यक है, किन्तु शक्ति का उपयोग केवल अपने ही लाभ के लिये नहीं, वरन् कुल, समाज और राष्ट्र के हित के लिये होना चाहिए। हम भारतीयों– विशेषकर हिन्दुओं का कल्याण इसी में है कि हम सब मिलकर तन, मन और धन से अपने देश और धर्म की सेवा करें और एक महान भारत के निर्माण के लिये सदा प्रयत्नशील रहें।

जागरूकता का अर्थ है अज्ञान का अभाव। व्यक्ति का यह समझना कि वह ' यह है ' अथवा वह है उसकी भूल है। केवल ' मैं अस्तित्व हूँ ' न कि ' मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ ' ' मैं ' आत्मा है। मैं यह हूँ अथवा, वह ही अहंकार है। अस्तित्व तुम्हारा स्वरूप है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

कल्याण मार्ग

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

(निर्मल चित्त ही बलवान् होता है)

यही मन असत पदार्थों की संगति करने से मलीन और निर्मल हो जाता है और वही मन मालिक के प्रेम में लवलीन होकर निर्मल और दृढ़ निश्चयात्मक बन जाता है। भक्ति के मार्ग में सिद्धि भी उसे प्राप्त होती है जिसका मन निर्मल और निश्चय वाला बन जाता है।

उपरिलिखित वचनों में सम्पूर्ण ग्रंथों का सार समाया हुआ है। अतएव हमें चाहिए कि जितना भी हो सके जगत की मोह–ममता से बचने और हृदय में प्रभु–प्रेम को उत्पन्न करने का यत्न करें। यदि हम इस कार्य में सफल हो गये तो समझो हमारे लौकिक एवं पारलौकिक समस्त कार्य पूर्ण हो गये, क्योंकि जब हमारे हृदय में परमेश्वर का वास हो जायगा तो हमारे समस्त कार्य परमेश्वर के कार्य बन जायेंगे।

अर्जुन को जब तक सम्बन्धियों का असत् मोह था, तब तक वह अशान्त और निर्बल था। उसका निर्बल मन एक–एक सम्बन्धी को देखकर विचलित हो रहा था। यद्यपि गाण्डीव धनुष जैसा दिव्य शस्त्र उसके हाथ में था, परन्तु मन की निर्बलता के कारण वह उसके हाथों से छूटा जाता था। कारण यह है कि उसका मन असत् मोह–ममता के रंग में रंग गया था। तभी तो युद्ध–क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी स्वजन–समुदाय को देखकर उसने भगवान श्रीकृष्ण के प्रति ये शब्द कहे–

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्रंसते, हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं, भ्रमतीव च मे मनः।।

–गीता 1/29–30

मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प एवं रोमांच हो रहा है, हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है इसलिए मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ।

अर्जुन के इन निर्बल शब्दों को पढ़कर हम अनुमान लगा सकते हैं कि उपरिलिखित वचनों में कितनी सत्यता है और यदि हमें भक्ति के कार्य में सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा है तो कितनी आवश्यकता है, जागतिक मोह से बचकर रहने की ?

अर्जुन भी वही था और उसका मन भी वही था, किन्तु जब वह गुरु–ज्ञान के साबुन से स्वच्छ एवं निर्मल हो गया तो वह निर्बल से बलवान् होकर ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक बन गया कि

अर्जुन ने महाभारत के युद्ध में अनेक शूरवीरों को पराजित किया। यही नहीं, उसने अपने इष्टदेव का कृपा–पात्र बनकर भक्ति के कार्य में भी सिद्धि प्राप्त की। परिणामस्वरूप उसका नाम इतिहास के गगन–मण्डल में आज भी जगमगा रहा है। यह सब उसके मन की शुद्धता एवं दृढ़ निश्चय का प्रताप है और ऐसा केवल इसीलिए हो सका, कि उसने अपने इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार आचरण किया।

एक प्रत्यक्षदृष्ट घटना है कि किसी गाँव के एक घर में आठ–दस डाकुओं ने डाका डाला। उस घर के मालिक के पास भरी हुई बन्दूक थी। वह घर की छत पर चढ़ गया, डाकू मकान के नीचे खड़े थे। यदि उसका मन सबल और दृढ़ निश्चय वाला होता तो सबकी इहलीला समाप्त कर देता, परन्तु उसका मन तो निर्बल था, क्योंकि उसके मन में जगत का मोह भरा हुआ था। अतएव भय के कारण उसका हृदय धड़कने लगा और हाथ–पैर काँपने लगे। परिणाम यह हुआ कि बन्दूक उसके हाथ से छूटकर नीचे जा गिरी और डाकुओं ने घड़ी भर में उसके घर का सफाया कर दिया।

एक बार हमें एक इंजीनियर साहब से मिलने का संयोग हुआ। उन्होंने बताया कि शासन की ओर से मुझे यहाँ इसलिये भेजा गया है कि यहाँ का हवाई अड्डा अत्यन्त सुदृढ़ बनाया जाये, क्योंकि भविष्य में यहाँ बड़े–बड़े जैट विमान उतरा करेंगे। इन विमानों का धक्का साधारण हवाई अड्डा कदापि सहन नहीं कर सकता।

उनकी बातों को सुनकर हमने उनसे कहा कि आपका मन भी तो (अपितु प्रत्येक मनुष्य का मन ही) एक हवाई अड्डे के समान है, जिसमें दुःखों – कष्टों के यान उतरते ही रहते हैं। जिनका मनरूपी अड्डा सांसारिक वासनाओं की मिट्टी से बना हुआ होता है, वे साधारण सा धक्का भी सहन नहीं कर सकते। इसी कारण संसार में प्रायः हृदय गति रुक जाने की घटनायें होती रहती हैं। जिनका मन सशक्त और सबल होता है, वे प्रत्येक अवस्था में स्थिर बुद्धि रहते हैं।

एक बार का वर्णन है कि एक विमान हवाई अड्डे के पक्के मार्ग के स्थान पर दस–बीस फुट की दूरी पर नर्म भूमि में गलती से उतर गया और वह वहाँ जमीन में ही धँस गया और यान की सब मशीनरी नष्ट हो गई।

संसार में रहते हुए भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ जीवन में प्रायः आती ही रहती हैं। बलवान् मन वाले उनकी कुछ भी पर्वाह नहीं करते। वे इन परिस्थितियों को वायु के तीव्र झोकों की भाँति समझते हैं, जो इधर से आते हैं और उधर चले जाते हैं, परन्तु निर्बल मन वाले मनुष्य के शरीर में वे बहुत तेज चुभते हैं जिसके कारण वे सदैव दुःखी एवं अशान्त बने रहते हैं।

जिन भाग्यशाली शिष्यों ने अपने मन का हवाई अड्डा सद्गुरु इंजीनियर के अर्पण कर रखा है और उनकी आज्ञानुसार सत्संग रूपी सीमेण्ट, भक्ति–भजन रूपी रोड़ी–रेत तथा प्रेम रूपी पानी डालकर उसे सुदृढ़ बनाने में लगे हुए हैं, उन्हें कष्टों एवं कठिनाइयों के कितने ही धक्के क्यों न लगें, उनके दृढ़–विश्वासी मन पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, जैसा कि सन्तों–भक्तों के जीवन–चरित्रों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ, परम सन्त श्री कबीर साहब जी, भक्त प्रहलादजी, मीराबाई, भक्त बिहारीदास जी आदि सन्तों–भक्तों पर संसार की ओर से दुःखों – कष्टों के कितने पहाड़ ढाये गये, भक्ति मार्ग में उन्हें कितनी बाधाओं का सामना करना पड़ा और उनके मन को कितने भीषण धक्के खाने पड़े, परन्तु उनके मन पर

उन सबका तनिक भी प्रभाव न पड़ा और उनके पग अपने लक्ष्य से तनिक भी नहीं लड़खड़ाये।

कारण यह था कि उनके मन में परमेश्वर की भक्ति दृढ़ हो चुकी थी। हवाई अड्डा बनाने के लिए पहले उसके मसाले को दृढ़ करते हैं अर्थात् सीमेन्ट, रोड़ी, रेत, पानी आदि को मिक्स करने की मशीन में डालकर खूब घुमा–घुमाकर हिलाते हैं, तब वह मसाला सुदृढ़ होता है, फिर वह डगमगाता नहीं। इसी प्रकार सन्त सतपुरुष भी पहले गुरुमुख जिज्ञासु के मनको सत्संग की रगड़ से सुदृढ़ बनाते हैं–

दोहा

द्वार धनी के पड़ि रहै धका धनी का खाय,
कबहुंक धनी निवाजई जो दर छांड़ि न जाय।

– कबीर जी

श्री कबीर जी कहते हैं कि सेवक ! दृढ़ निश्चय से सद्गुरुदेव पूर्ण धनी के द्वार पर पड़े रहो और उनकी ओर से कितने भी कष्ट झेलने पड़ें, प्रसन्नतापूर्वक सहन करो। यदि दृढ़ निश्चय के साथ डटे रहोगे और द्वार छोड़कर भाग न जाओगे तो एक न एक दिन धनी की कृपा दृष्टि अवश्य ही तुम पर पड़ेगी और तुम प्रभु के प्रेमास्पद बन जाओगे।

यह सत्य है कि जो सेवक सद्गुरु की शरण में जाकर उनकी आज्ञा की चोट को सहन कर लेता है, उसको कोई संसारी चोट तो क्या काल की चोट भी डांवाडोल नहीं कर सकती।

संसार की समस्त वस्तुओं को संसार के कारीगर ही सुदृढ़ बना सकते हैं, परन्तु आत्मा एक ऐसी उत्तम एवं निराली वस्तु है, जिसका ज्ञान केवल समय के सद्गुरु को ही होता है। संसार के बड़े से बड़े बैरिस्टर, दार्शनिक और वैज्ञानिक भी इसके विषय में सही ज्ञान नहीं रखते। आत्माको शुद्ध, निर्मल और सुदृढ़ करने का कार्य समय के संत सद्गुरु के सिवाय और कोई नहीं कर सकता।

जीवात्मा का मनुष्य शरीर पाकर सबसे आवश्यक एवं प्रथम कर्त्तव्य यही है कि समय के सन्त सद्गुरु की शरण–संगति में जाकर आत्म–ज्ञान प्राप्त करे और सद्गुरु की आज्ञानुसार चलकर अपनी आत्मा की शुद्ध, निर्मल तथा भक्ति में सुदृढ़ बनाये। आत्मा को सुदृढ़ बनाने के अतिरिक्त अन्य जितने कार्य हैं, वे अस्थायी एवं अनित्य हैं। वे सब कार्य कुछ समय के लिए ही हैं। उदाहरणार्थ, किसी ने घर, मकान, दुकान आदि के लिए सुदृढ़ तथा उत्तम फर्नीचर बनवा लिया, किसी ने अपने निवास–स्थान को सुदृढ़ बनवा लिया, परन्तु ये सब तो एक न एक दिन विलग हो जाने वाले हैं।

सोने के गढ़ से भी सुदृढ़ गढ़ कोई बनवा सकता है ? किन्तु ऐसे सुदृढ़ गढ़ का निर्माण करवाने वाला रावण जैसा महाबली योद्धा भी जबकि उसे साथ न ले जा सका तो और कोई क्या ले जायेगा? साथ जाने वाली वस्तु तो परमेश्वर की भक्ति है। भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं जाता। रावण जैसे महा प्रतापी राजा ने इतना सोना एकत्र किया कि अपने समस्त राज–प्रासाद ही सोने के बनवा डाले, परन्तु परलोक में तो रत्ती–भर भी सोना उसके साथ न गया। सतपुरुषों का कहना है–

दोहा

भक्ति बिना क्या होत है, भरम रहा संसार।
रत्ती कंचन पाया नहीं, रावण मरती बार।।

–कबीर जी

माया एक नागिन के समान जगत् से लिपटी हुई है। जो इसकी सेवा करते हैं, उन्हीं को यह हड़प कर लेती है।

ग्रन्थों में ऐसे सहस्त्रों प्रमाण विद्यमान हैं। आप दुर्योधन का ही उदाहरण ले लो। असत् माया को सत् समझकर उसने कौनसा पाप नहीं किया ? गीता के प्रथम अध्याय के श्लोक छत्तीस वें में अर्जुन ने इस बात को माना है कि दुर्योधन आततायी है। आततायी महापापी को कहा जाता है और शास्त्रकारों के अनुसार उसमें निम्नलिखित छः दोष पाये जाते हैं–

(1). जो इस भावना से किसी के घर को आग लगाये कि उसमें रहने वाले सब लोग जलकर भस्म हो जाएँ।

(2). जो भोजन में विष मिलाकर किसी को मारने का यत्न करे।

(3). जो किसी शस्त्रहीन को हथियार से मारना चाहे।

(4). जो धोखे से अन्य व्यक्ति का धन हड़पना चाहें।

(5). जो बलपूर्वक किसी के घर अथवा भूमि पर अधिकार करने का यत्न करें।

(6). जो किसी की स्त्री को बलपूर्वक घर में रखना चाहें।

उपरोक्त सब दोष दुर्योधन में थे। इन दोषों ने दुर्योधन की आँखें होते हुए भी अँधा बना रखा था। इसी कारण उसका मन निर्बल था और मन ही मन वह भय से हर समय काँपता और थरथराता रहता था। भय के कारण भीष्म और द्रोण के समक्ष सदैव सहायता के लिए हाथ फैलाता था।

किसी ने सत्य ही कहा है कि पापी के मारने को पाप ही महाबली है। वही पाप ही घुन के समान चिपट कर पापी की आत्म–शक्ति का नाश करके उसे खोखला बना देते हैं, जिसके कारण वह स्वप्न में भी भयभीत होता रहता है। प्रकट में वह चाहे अत्यन्त ठाट–बाट से क्यों न रहें, परन्तु भीतर ही भीतर उसे पापरूपी सर्प डंक मारते ही रहते हैं, जिसके कारण वह सदैव दुःखी रहता है।

दूसरों को ज्ञात हो अथवा न हो, परन्तु दुर्योधन को तो अपने पापों की जानकारी थी। इसी कारण वह हर समय मन ही मन दुःखी एवं अशान्त रहता था और अपने पापों के भय से हर समय काँपता रहता था, क्योंकि उसका मन निर्बल हो चुका था।

यदि कोई मनुष्य नियम के विरुद्ध बिना टिकट रेलगाड़ी में यात्रा करता है तो उसका मन भीतर ही भीतर काँपता रहता है। टिकट–चैकर को आया देखकर सीट के नीचे घुसकर छिपने का यत्न करता है। जब तक टिकट–चैकर डिब्बे में रहता है, तब तक वह लोगों के पैरों–तले दुबका पड़ा रहता है।

ठीक इसी प्रकार जिसके पास सद्गुरु के दिये हुए 'नाम' की टिकट नहीं है वह व्यक्ति भक्ति–नाम के सुन्दर, सुखद एवं आनन्ददायक वातावरण को छोड़कर विषय–विकारों के

दु:खद वातावरण में जीवन व्यतीत करता है। जहाँ उसका मन, चित्त, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा आदि की अग्नि में जलता रहता है। वह स्वयं ही अपना शत्रु है और अपने लिए स्वयं ही शत्रु–सेना तैयार करता रहता है।

महा अभिमानी रावण को मन्दोदरी, अंगद और विभीषण ने कितना ही समझाया, परन्तु उसके कानों में अहंकार की रुई भरी हुई थी, उसने उनकी एक न सुनी। अपने हितैषियों को अपना शत्रु समझा और उनका निरादर किया। मन्दोदरी की बातों को हँसी में उड़ा दिया इस कान सुना उस कान से निकाल दिया और विभीषण को तो लात मार कर अपनी सभा से ही निकाल दिया। यद्यपि रावण भली–भाँति जानता था कि जिस बालि ने मुझे पकड़कर छःमास तक अपनी कांख में दबाये रखा था, उस महाबली बालि की इहलीला श्री रामचन्द्र जी ने एक ही बाण में समाप्त कर दी। उनके एक ही बाण से मारीच जैसा राक्षस सौ योजनकी दूरी पर जा गिरा, खर–दूषण जैसे और भी कितने ही राक्षसों का देखते ही देखते अन्त कर दिया।

इसलिये उचित है कि हम पल–पल सचेत, सतर्क एवं सावधान रह कर गुरु–शब्द के अभ्यास द्वारा मन को शुद्ध, निर्मल बनाने का यत्न करते रहें।

मां चेन्न पास्यसि ततो भगवन्ममैव
हानिर्भवेदिति तु नो मननीयमीश।
यर्वैश्वरस्य करुणादिगुणामृताब्धे–
र्दासो हि सीदति जना इति वै क्षिपेयुः।।

भगवन् ! हे ईश ! आप यदि मेरी रक्षा न करेंगे तो आप यह न समझें कि उससे केवल मेरी ही हानि होगी; किन्तु 'अहा देखो, सर्वेश्वर का सेवक होकर भी दुःख पा रहा है' यह कहकर जनता भी आपको उलाहना दिये बिना नहीं रहेगी।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

मैं कौन हूँ

अन्तू राम यादव

प्रातः स्मरणीय योग योगेश्वर अनन्त श्री दादा गुरुदेव एवं सद्‌गुरुदेव भगवान के कमलवत् चरणों में कोटिशः नमन एवं सभी आदरणीय भाई–बहनों को सादर जय गुरुदेव ! भाई और बहनों ! मानव का स्वभाव होता है कि वह दूसरों के बारे में जानने के लिए सदैव उत्सुक रहता है। मानव बुद्धि जीवी प्राणी है। आकाश में, भूगर्भ में, समुद्र में एवं समुद्र–तल में क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है सब कुछ जानना चाहता है और उसके लिए अथक प्रयास भी करता है परन्तु अपने बारे में जान के लिए शायद उसके पास समय ही नहीं है। हम सुबह बिस्तर छोड़ने से लेकर रात बिस्तर पर जाने तक " मैं " की रट लगाये रहते हैं। मैं जा रहा हूँ, मैं खा रहा हूँ, मैं पूजा कर रहा हूँ, आदि–आदि परन्तु मैं क्या हूँ, इस तरफ हमारा चिन्तन ही नहीं हो पाता।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जिनका बचपन का नाम नरेन्द्र था, स्वामी राम कृष्ण परम हंस के घर गये। दरवाजा अन्दर से बन्द था। उन्होंने दरवाजे की कुन्डी खटखटाई। अन्दर से आवाज आई कौन ? विवेकानन्द जी ने उत्तर दिया– महाराज ! मुझे नहीं पता कि मैं कौन हूँ? यही जानने की जिज्ञासा लेकर आप के पास आया हूँ ? ऐसा अद्‌भुत उत्तर सुनकर स्वामी रामकृष्ण ने दौड़ कर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और कहा बेटा ! तुम अध्यात्म के सच्चे जिज्ञासु हो। आगे चलकर वही स्वामी विवेकानन्द विश्व–विख्यात हुए।

लोगों की भीड़ लगी हो और बारी–बारी से प्रत्येक व्यक्ति से पूछा जाए कि ईश्वर है कि नहीं ? आस्तिक विचार धारा के लोग कहेंगे ईश्वर है और नास्तिक विचार धारा के लोग कहेंगे ईश्वर नहीं है। परन्तु यदि उनसे यह पूछा जाए आप हैं कि नहीं ? कौन कहेगा कि "मैं नहीं हूँ"। अगर किसी से कहा जाए कि आप नहीं रहे तो शायद वह नाराज हो जायेगा। अर्थात् " मैं हूँ " यह निर्विवाद रूप से सभी स्वीकार करते हैं। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

जब किसी से पूछा जाता है कि तुम कौन हो तो वह जवाब देता है– मैं मनुष्य हूँ। उससे पुनः पूछा जाता है कि तुम्हारा स्वरूप क्या है ? वह कहता है– एड़ी से चोटी तक यह स्थूल शरीर ही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार वह अपने आप को शरीर मानता है। परन्तु जब उससे पूछा जाता है कि क्या तुम पैर हो ? वह कहता है नहीं। इसी प्रकार वह शरीर के किसी भी अंग को " यह मैं हूँ " ऐसा मानने के लिए तैयार नहीं होता। एक दिन मौत आने पर स्थूल शरीर पड़ा रहता है ; परन्तु " मैं " कहने वाला नहीं रहता। यदि शरीर " मैं " होता तो शरीर उस दिन भी मैं कहता। परन्तु मैं कहने वाला तो चला गया फिर जड़ शरीर " मैं " कैसे कह सकता है ?

यदि दोनों पैर कट जाए तो भी " मैं " रहता हूँ ? यदि दोनों हाथ टूट जाएँ, दोनों आँखें फूट जाए तो भी " मैं " रहता हूँ। यदि मैं शरीर या शरीर का कोई अंग होता तो उनके भंग होने पर

मैं नहीं रहता। परन्तु अंगों के भंग होने पर भी " मैं " रहता हूँ। अतः मैं मैं शरीर या उसके अंग नहीं हूँ। विज्ञान का मत है कि मनुष्य के शरीर के सारे परमाणु सात वर्ष में बदल जाते हैं। यदि मैं शरीर होता तो इस मत के अनुसार सात वर्ष के पश्चात् " मैं " भी न रहता। अर्थात् सात वर्ष के पूर्व की बात स्मरण में न आती। परन्तु ऐसी बात नहीं दिखती। यह निश्चित है कि बाल्य अवस्था का शरीर जवानी में और जवानी का शरीर वृद्धावस्था में नहीं रहता। परन्तु बाल्य, जवानी, वृद्ध इन तीनों अवस्थाओं में " मैं " एक रस रहता हूँ। अतः मैं शरीर नहीं हूँ।

मोटर चलाने वाला ड्राइवर अगर यह कहे कि मैं मोटर हूँ; घर में रहने वाला मनुष्य यह कहे कि मैं घर हूँ, इसी प्रकार यह कहना कि मैं शरीर हूँ – यह बहुत बड़ी अज्ञानता है। " मैं" और मेरा में जमीन आसमान का अन्तर होता है। मेरा कभी मैं नहीं हो सकता। जैसे मेरा घर, मेरी मोटर, मेरी घड़ी " मैं " नहीं हो सकते। इसी प्रकार मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ " मैं " नहीं हो सकते। बहुत खोज करके देखा गया, परन्तु न जड़ तत्वों में चेतन के लक्षण मिले और न चेतन में जड़ तत्वों के लक्षण मिले। शरीर को मैं कहना ठीक उसी प्रकार से है जैसे अपने पिता को बाल – ब्रह्मचारी कहना, कछुआ की पीठ के रोयें से बंध्या – पुत्र द्वारा कम्बल बुनवा कर कड़ी ठण्ड में ओढ़ कर सुख पूर्वक सोना।

इस प्रकार गणित के सूत्र की तरह से पहली बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हुई कि " मैं " शरीर नहीं हूँ। भाई और बहनों सन्तों का कथन है कि अगर तथ्य भली–भाँति हमारे दिल–दिमाग में बैठ जाए कि " मैं " शरीर नहीं हूँ तो इसे भी एक प्रकार का मोक्ष ही कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है– तो फिर मैं कौन हूँ? आइए इस पर तनिक विचार करें–

एक बूढ़ी माँ का नौजवान बेटा मर गया। बेटे का मृतक शरीर जमीन पर पड़ा था और माँ उस के पास फूट–फूट कर रो रही थी। वहीं पास से ही एक संत जा रहे थे। रोने की आवाज सुनकर माँ के पास आये और बोले माँ क्यों रो रही हो ? माँ ने कहा महाराज ! मेरा बेटा नहीं रहा। संत ने कहा माँ ! बेटा तो तुम्हारे सामने पड़ा है, कैसे कह रही हो कि बेटा नहीं रहा। माँ ने कहा नहीं, मेरा बेटा चला गया। सन्त ने कहा– जिस बेटे को तूने पैदा किया, पाल–पोषकर बड़ा किया, वहीं बेटा तुम्हारे सामने है। माँ ने कहा – महाराज ! अब " वो " नहीं रहा। यहाँ माँ के " वो " शब्द को ध्यान में रखिएगा।

हमारे दादा गुरुदेव के समय की बात है। एक बार ऋषिकेश में महाप्रभु जी के कई ध्यानी बच्चे ध्यान में देखे कि गोलोक धाम में सभी देवी–देवता महाप्रभु जी की आरती–पूजा कर रहे हैं। ध्यान से उठने के बाद वे लोग आपस में चर्चा करने लगे कि ऐसा कैसा आश्चर्य है– सभी देवी–देवता प्रभु जी का पूजन क्यों कर रहे हैं ? एक वैष्णव महात्मा ने कहा कि यह सब माया अथवा भ्रान्ति–दर्शन है। बात महाप्रभु जी के पास पहुँची। महाप्रभु जी ने अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए कहा– सभी देवी–देवता इसकी पूजा नहीं कर रहे थे वे " उसकी " पूजा कर रहे थे। यहाँ पर श्री प्रभु जी के " उसकी " शब्द को ध्यान में रखिएगा।

एक बार स्वामी रामकृष्ण परम् हंस के कुछ शिष्यों ने उनकी एक ध्यान मुद्रा की सुन्दर फोटो मढ़ाकर उन्हें भेंट किया। स्वामी जी ने उस फोटो को लिया और बड़ी श्रद्धा के साथ उसको प्रणाम किया। वहीं पर खड़े स्वामी राम कृष्ण परम हंस के अनपढ़ लाडले शिष्य लाटू महाराज ने कहा– अरे ठाकुर ! आप अपने को प्रणाम कर रहे हो। स्वामी ने उत्तर दिया– नहीं रे, मैं इसको

नहीं " उसको " प्रणाम कर रहा हूँ। यहाँ स्वामी जी के " उसको " शब्द को ध्यान में रखिएगा।

अब आइए दीक्षा में प्राप्त अपने महामंत्र पर एक दृष्टि डालें। हंस एक नीर–क्षीर विवेकी पक्षी होती है। हंस एक विद्या भी होती है और हंस उस सद्गुरु तत्व, पर ब्रह्म परमात्मा का भी नाम है। अगर महामंत्र के अर्थ पर विचार करें तो मंत्र के पहले भाग का अर्थ है – मैं " वह " हूँ। यह वह शब्द उसी तरफ संकेत कर रहा है जिस तरफ बूढ़ी माँ का " वो " शब्द, महाप्रभु जी का " उसकी " शब्द और परम हंस जी का " उसको " शब्द संकेत कर रहे थे। हमारे गुरु मंत्र के पहले भाग का अर्थ हुआ – मैं वह हूँ। अब प्रश्न उठता है– मैं " वह " क्या हूँ? मंत्र के दूसरे भाग का अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है कि मैं हंस स्वरूप परमात्मा हूँ। अब हमें भली–भाँति समझ लेना चाहिए कि शरीर, इन्द्रिय, प्राण, वीर्य, तेज, मन, बुद्धि, अहंकार एवं संसार का जानने वाला, सबका जनैया ज्ञान स्वरूप " चैतन्य जीव " मैं ही हूँ।

आदि गुरु शंकराचार्य ने कहा है –

मनो बुद्धिः अहंकार चित्तानि नाहम्।
न च श्रोत जिह्वे न च घ्राण नेत्रे।।
न च व्योम भूमिः न तेजो न वायुः।
चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम।।

अर्थात् मैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नहीं हूँ। मैं कान, जीभ, नाक और आँख भी नहीं हूँ। मैं आकाश, पृथ्वी, तेज (अग्नि), वायु आदि पंच महाभूत भी नहीं हूँ। तो मैं फिर क्या हूँ ? मैं चिन्मय, आनन्द स्वरूप हूँ। मैं मंगल मय, आनन्दमयी चेतना हूँ।

उपरोक्त तथ्यों से यह विदित होता है कि " मैं " का सम्बोधन इस शरीर या उसके अंगों के लिए नहीं बल्कि उस परम् तत्व के लिए ही होता है। आइए बड़ी विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ सद्गुरु भगवान से प्रार्थना करें कि वे हमें ऐसी बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करें जिससे हम सब में यह भाव पक्का हो जाए कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं वह सद्गुरु तत्व परब्रह्म परमात्मा हूँ।

अपनी भूलों एवं त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करते हुए निम्नांकित पंक्तियों के साथ अपनी लेखनी को विराम देता हूँ–

" इतनी शक्ति हमें देना दाता,
मन का विश्वास कमजोर हो ना।
हम चलें नेक रास्ते पर हर दम,
भूल कर भी कोई भूल हो ना।। "

सादर जय गुरुदेव !

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

सबोध मन और अबोध मन

श्री जे. कृष्णमूर्ति

वह व्यापारी भी था और राजनीतिक भी। दोनों क्षेत्रों में उसने सफलता प्राप्त की थी। वह मुस्कराते हुए कह रहा था कि व्यापार और राजनीति दोनों का मेल बहुत बढ़िया है। इसके बावजूद उसमें विचित्र अब श्रद्धा से बद्ध एक प्रकार की बेचैनी दिखाई दे रही थी। फुरसत मिलने पर वह धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया करता था। बीच–बीच में लाभदायी मन्त्रों का जाप भी। उसका कहना था कि इससे आत्माको शांति मिलती है। वह बूढ़ा हो चला था और उसने धन भी पर्याप्त कमाया था, लेकिन न वह हाथ का उदार था न हृदय का, वह पक्का चालाक और हिसाबी था। भौतिक सफलता की अपेक्षा कुछ अधिक प्राप्त करने की व्याकुलता उसमें थी। जीवन के स्पर्श से वह वंचित हो गया था। उसे जीवन का प्रक्षोभक स्पर्श न हो, इसके लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहा था। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी उसने अपने को दुर्भेद्य बना डाला था। मन से अपनी असली तस्वीर देखना उसने जान–बूझकर टाल दिया था और ऐसा करना उसे बिल्कुल असंगत नहीं लगा था, लेकिन अब उस पर इस बात का असर होने लगा था। उसकी जागरूकता जब थोड़ी शिथिल होती, तब उसके चेहरे पर किसी के द्वारा पछाड़े जाने का भाव व्यक्त हो जाता था। आर्थिक दृष्टि से वह सुरक्षित था, जब तक वर्तमान शासन–व्यवस्था कायम है और देश में क्रान्ति नहीं हो जाती, तब तक उसे कोई भी भय नहीं था। उस भौतिक जगत् की भाँति ही तथा–कथित आध्यात्मिक जगत् की सुरक्षितता के लिए इस क्षेत्र में भी कुछ पूँजी लगाई जाए ऐसा उसे महसूस हो रहा था। इसलिए वह विभिन्न आध्यात्मिक कल्पनाओं के साथ खेलना चाहता था। वह इस गलतफहमी में था कि आध्यात्मिक कल्पना ही सत्य है। उपार्जित सम्पत्ति के अलावा अन्य किसी के प्रति उसके मन में कोई प्रेम नहीं था। जैसे कोई बालक अपनी माँ से चिपका रहता है, वैसे ही वह अपनी सम्पत्ति से चिपका हुआ था, क्योंकि उसका दूसरा कोई निकटवर्ती नहीं था। धीरे–धीरे उसे इस बात का बोध होने लगा था कि उसका जीवन दुःखी है, लेकिन इस बोध को भी वह यथा सम्भव टालने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन अब वह जीवन के भार से दबा जा रहा था।

जब किसी समस्या का हल मन के सबोध स्तर पर नहीं हो पाता, तब क्या अबोध मन उस समस्या को हाथ में लेकर उसके समाधान में मदद कर सकता है ? सबोध मन और अबोध मन, ये कैसी चीजें हैं ? सबोध मन और अबोध मन की भिन्नता दिखाने वाली क्या कोई निश्चित सीमा–रेखा है ? जिसके आगे नहीं जा सकते, ऐसी कोई मर्यादा सबोध मन की है ? क्या यह संभव है कि सबोध मन अपनी सीमा में ही अपने को सीमित करले ? क्या अबोध मन सबोध मन से बिल्कुल भिन्न है ? क्या ये दोनों एक–दूसरे से मेल नहीं खाते ? जहाँ एक का कार्य समाप्त होता है, क्या वहीं दूसरे का कार्य प्रारम्भ होता है ?

जिसे हम सबोध मन कहते हैं, वह आखिर है क्या ? इसकी रचना किस प्रकार हुई है ? यह समझने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि हम किसी समस्या का हल कैसे करते हैं। हममें से अधिकांश लोग समस्या का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न करते रहते हैं। हमारा ध्यान उत्तर पर रहता है, समस्या पर नहीं, हम निर्णय चाहते हैं। हम समस्या से बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ते हैं। समस्या के स्वरूप का बारीकी से निरीक्षण करने के बजाय हमारा प्रयत्न समस्या से छुटकारा पाने का रहता है। हम स्वयं समस्या का निरीक्षण नहीं करते, बल्कि कोई समाधान कारक उत्तर पाने की आशा में अंधेरे में टटोलते रहते हैं। हमारे सबोध मन को केवल समस्या का हल ढूँढ़ने की, समाधानकारक निर्णय प्राप्त करने की ही चिन्ता रहती है। बहुत बार हमें सन्तोषप्रद उत्तर मिलता भी है और फिर हमें ऐसा लगने लगता है कि हमारी समस्या सुलझ गई है। वस्तुतः हम इतना ही करते हैं कि किसी निर्णय से, किसी सन्तोषदायक उत्तर से हम समस्या को केवल ढक देते हैं, लेकिन उस निर्णय के दबाने के नीचे भले ही समस्या तात्कालिक रूप से दम तोड़ती-सी दीखे, वह वास्तव में जीवित ही होती है। समाधान कारक उत्तर ढूँढ़ने का मतलब वास्तव में समस्या को टालना ही है। जब मन को संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता, तब सबोध मन शोध करना छोड़ देता है। फिर तथाकथित अबोध मन–मन का यह सबोध स्तरप्रश्न को अपने हाथ में लेता है और उत्तर ढूँढ़ देता है।

स्पष्ट है कि सबोध मन समस्या से बाहर निकलने का मार्ग खोजता है। किसी संतोष-जनक निर्णय तक पहुँचने का अर्थ ही मार्ग मिलना है, ऐसा समझते हैं। लेकिन क्या यह सबोध मन स्वतः ही नाना प्रकार के प्रवृत्ति शील या निवृत्तिशील निर्णयों से निर्मित नहीं होता है ? फिर ऐसे मन को दूसरे किसी भी प्रकार का शोध लगाना क्या संभव भी है ? यह सबोध मन अथवा समग्र मन का यह ऊपरी स्तर, क्या नाना निर्णयों का संग्रहालय ही नहीं होता ? और पूर्वानुभवों की स्मृति और अतीत की घटनाओं का मन पर उत्कीर्ण आलेख– क्या यही निर्णयों का स्वरूप नहीं है ? निश्चय ही सबोध मन भूतकाल के द्वारा ही निर्मित होता है, वह भूतकाल पर ही आधारित होता है। स्मृति है मानो नाना निर्णयों के धागों से बुना हुआ वस्त्र। स्मृतियों अथवा निर्णयों के ऐसे चश्मे से सबोध मन समस्या की ओर देखता है। निर्णयों के चश्मे से समस्या की ओर देखना, समस्या का भली-भाँति निरीक्षण करना, निःशब्द रूप से केवल समस्या की ओर तरल अवधान रहने देना यह सबोध मन के लिए संभव ही नहीं। उसे केवल निर्णयों को ही जानना है, फिर वे सुखद हों या दुखद और यह सबोध मन इतना ही कर सकता है कि अधिकाधिक निर्णय, अधिकाधिक कल्पनायें और अधिकाधिक पक्की कल्पनात्मक ग्रन्थियों को अपने संग्रह में एकत्र करता रहे। इसका कोई भी निर्णय भीतर जीम कोई ग्रन्थि ही है। सबोध मन को अपरिहार्य रूप से कोई निर्णय खोज लेना है।

लेकिन जब कोई सन्तोषप्रद निर्णय इस सबोध मन को नहीं मिलता, तब वह शोध करना छोड़ देता है और इस प्रकार वह शान्त और निस्तब्ध बने हुए मन में अबोधमन धीरे से समस्या का उत्तर सुझाता है। हम अब यह देखें कि यह अबोधमन, यह गहन मन उस सबोधमन की अपेक्षा क्या कुछ भिन्न होता है। क्या वह अबोधमन भी वंशपरम्परागत, सामूहिक और सामाजिक स्वरूप के निर्णयों से और स्मृतियों से निर्मित नहीं होता ? निश्चय ही यह अबोधमन भी पूर्वानुभवों का और गतकाल का ही परिणाम होता है। यह अबोधमन केवल भीतर नीचे के

स्तर पर दबा हुआ होता है। और ऊपर के स्तर पर उछलकर आने के लिए दबाव से भरा रहता है। मौका मिलते ही भीतर दबे हुए निर्णयों को वह ऊपर के स्तर पर उछाल देता है। ये निर्णय यदि सन्तोषप्रद लगें तो ऊपर का सबोधमन उन्हें स्वीकार करता है, अन्यथा यह ऊपरी मन उलझकर दौड़–धूप करने लगता है और सोचने लगता है कि किसी भी चमत्कार से हमें अपनी समस्याओं का उत्तर मिल जायेगा। यदि उत्तर नहीं मिलता तो वह विवश होकर समस्याओं में ही घुलता रहता है। धीरे–धीरे वह भीतर से खोखला हो जाता है। फिर वह या तो किसी बीमारी में फँस जाता है अथवा उसे पागलपन घेर लेता है।

ऊपर का सबोध मन और नीचे का अबोध मन, ये वस्तुतः विसदृश नहीं होते। मन के ये दोनों स्तर पिछली स्मृति और पिछले निर्णयों से ही निर्मित होते हैं। दोनों की गतकाल के परिणाम हैं। समस्या का कोई समाधान या निर्णय वे दे सकते हैं, परन्तु समस्या का सम्पूर्ण विसर्जन करना उनके वश की बात नहीं। समस्या का विसर्जन तभी होता है जब मन के ये दोनों स्तर शान्त और निस्तब्ध होते हैं और अपने प्रवृत्तिशील और निवृत्तिशील निर्णय सामने करना छोड़ देते हैं। जब सम्पूर्ण मन अतिशय निस्तब्ध बनता है, जब वह रुचि–अरुचि रहित समस्या का अवधान रखता है तभी समस्या से सम्पूर्ण मुक्ति होती है। क्योंकि उस स्थिति में समस्या उत्पन्न करने वाला वह भाव रहता ही नहीं।

पंचामृत

शुद्ध जल, शुद्ध वायु, शुद्ध भूमि, विपुल प्रकाश और विपुल अवकाश ये पाँच अमृत हैं। ये ही 'पंचामृत' कहलाते हैं। ऐसे पंचामृत के सेवन से अपमृत्यु हट जाती है। प्रतिदिन ऊषा-भ्रमण आवश्यक है इससे अनेक लाभ होते हैं। पहाड़ों पर नदी के तट पर अथवा शुद्ध प्रदेश में सवेरे सूर्य प्रकाश में भ्रमण करने के समय ऐसा प्रतीत होता है मानो निसर्ग देवता अपने शरीर में बल तेज प्रसन्नता और आरोग्य की स्थापना कर रहे हैं।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

अनर्थकारी अर्थ

श्री परिपूर्णानन्द जी

ग्राहेस्थ्य जीवन में तथा लोकाचार के लिए निःसन्देह धन की नितान्त आवश्यकता है, विशेषकर आज के युग में। पर मानव जीवन का सबसे बड़ा शत्रु भी धन ही है – यह स्वीकार करना होगा। ईशा मसीह ने गलत नहीं लिखा है कि " धनी का स्वर्ग में प्रवेश पाना असम्भव है। " इसका अर्थ केवल यही है कि धन मनुष्य को इतना अन्धा कर देता है कि वह संसार के सभी कर्तव्यों से गिर जाता है। धन का महत्व इसी में है कि वह लोक–सेवा में व्यय हो। नहीं तो धन के समान अनर्थकारी और कुछ भी नहीं है।

जैसा कि शास्त्रों में कहा है –

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः,

कामः क्रोधः स्मयो मदः।

भेदो वैरमविश्वासः,

संस्पर्धा, व्यसनानि च।।

एते पञ्चदशानर्था,

ह्यर्थमूला मता नृणाम्।

तस्मादनर्थमर्थाख्यं,

श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्।।

(धन) से ही मनुष्यों में से चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद–बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब– ये पन्द्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए कल्याण कामी पुरुष को 'अर्थ ' नामधारी अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिए। '

फारसी कहावत है कि ' संसार में एक को स्त्री बनाकर यानी विवाह कर आदमी संसार भर की स्त्री बन जाता है अर्थात् गृहस्थ जीवन में उसे सबका आश्रित या पराधीन बनकर चलना पड़ता है। यह भी तो धन की आवश्यकता की महिमा है। यदि संसार में धन नामक पदार्थ न होता तो हमारा जीवन कैसा होता ! आखिर जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम सब अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, सुख भोगना चाहते हैं। पर, सुख की अनेक प्रकार की व्याख्या हो सकती है। उसके अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। आज की सभ्यता की चमक–दमक में सुख की बड़ी विचित्र व्याख्यायें निकलती चली आ रही हैं। पर विलासपूर्ण सुख की प्रतिक्रिया भी होती है। आज बड़े–बड़े विचारक यह सोचने लगे हैं कि सुख की परिभाषा बदलनी चाहिए। उसकी वास्तविकता को समझना चाहिए।

पाश्चात्य लेखक वर्ट टेलर ने कुछ वर्ष पूर्व 'सुख का अधिकार' नामक एक रोचक तथा महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। उसमें उनका कथन था–

आज संसार में बहुत ही कम लोग सुखी कहे जा सकते हैं। भूतकाल में हमारा जीवन केवल रोटी कमाने में बीता। अब हमको समाज में अपना स्थान कमाने में बिताना चाहिए। केवल धन और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। लक्ष्य होना चाहिए कभी भी दुःखी न रहना। हरेक के जीवन में सबसे महान प्रेरणा यह होनी चाहिए कि हमारा जीवन प्रकृति से अधिक से अधिक निकट हो और तर्क तथा बुद्धि से दूर न हो।

हमको अपने जीवन में काम करने का आदर्श समझ लेना चाहिए। यह आदर्श पेट का धंधा नहीं सेवा होनी चाहिए। सर्व–कल्याण, समाज–सेवा, सत्यनिष्ठ जीवन तथा विद्या ही हमारा कार्य–क्षेत्र हो। हमको ऐसे युग की कल्पना करनी चाहिए, जिसमें हमारा हेतु केवल जीविका उपार्जन न रह जाय, जीवन केवल अर्थोपार्जन या प्रतिस्पर्धा की वस्तु न रह जाए। व्यापार के नियम बदल जाँए। एक काम के अनेक करने वाले हों और अनेक व्यक्ति एक ही काम को अपना सकें। मालिक और नौकरों में काम करने के घंटों की झिक–झिक दूर हो। मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, उसकी आत्मा भी हो, उसका देवता भी हो उसका इहलोक और परलोक भी हो।"

धन को इस दुनिया में, चकाचौंध के इस जीवन में जबकि सभ्यता का एकमात्र लक्ष्य केवल पैसा कमाना है, ऐसी आवाज उठाना एक बड़ी भारी बात है और इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अब लोग धन की मर्यादा से ऊब कर हमारी आर्य सभ्यता की प्राचीन तथा सत्ययुग की मर्यादा की ओर मुड़ रहे है। उन्हें ऐसा लगने लगा है कि यह सब आडम्बर मिथ्या है। धन ही विपत्ति की जड़ है, इसी से संसार का सब विग्रह प्रारम्भ होता है और वर्गवाद, साम्यवाद या साम्राज्यवाद का उपद्रव खड़ा हो जाता है। न धन की घुड़दौड़ रहे और न यह सब विपत्तियाँ खड़ी हों। न बाँस रहे, न बजे बाँसुरी।

भीतर देखो

वर्ट टेलर ने ठीक ही कहा है कि – " जीवन ही हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है। उसका उपदेश ही हमारे सांसारिक जीवन के लिए पर्याप्त होगा। वह हमें ऐसी बातें बतलाता है, जिसे हमारे शिक्षक नहीं जानते। इसलिए सब कुछ छोड़कर जरा अपने जीवन को ही पढ़िये। हमें अपने को जानना चाहिये, अपने पड़ौसियों को जानना चाहिये, मानवी प्रतिक्रिया का ज्ञान होना चाहिये अन्य और हमें, कुछ जानने की आवश्यकता ही क्या ? जरा हमको बड़े–बड़े लोगों के दिल के भीतर की बातें तथा उनका भीतरी जीवन देखने दीजिये ताकि हम उनको पहचान सकें। तब हम राजनीतिज्ञों की कलाबाजियाँ और राजनीतिज्ञों की चालबाजियाँ समझ सकेंगे। हमको उनकी अपनी महत्वाकांक्षा तथा कामना की असलियत समझ लेने दीजिये। बतलाइये, तो कि हम किस पर भरोसा करें और कैसे करें। हमें तो वह सिखलाइये कि सच को पहचानें और अपने साथ, अपने कामों के साथ सचाई बरतने लगें। हमें यह सिखलाइये कि दूसरों के प्रति दुर्भाव न रखें, हमें चिन्ता शीलता के भयंकर दुःख से बचना सिखलाइये। रात–दिन ऊहापोह तथा सोच–विचार में पड़े रहना बन्द हो। शायद तभी हम सुख को पहचान सकें, समझ सकें, जान

सकें और उसको अपना सकेंगे। जीवन क्षणभंगुर है, जवानी कल की बात मालूम होती है। जवानी सिनेमा–भवन, क्लब तथा खेल–कूद में बीत गई। बुढ़ापा सिर पर है, अब उसका दुःख आ पहुँचा। युवक को सदाचारी तथा संयमी होना चाहिए। उसे गुरुजनों का आदर करना चाहिए तभी वे बुढ़ापा खे पायेंगे।

यदि हम अपने तथा दूसरों के हृदय के भीतर बैठकर यह समझ जायें तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायेगा। पर, आज हम ऐसा नहीं करते हैं, यह क्यों ? इसका कारण धन की विपत्ति है। धन की दुनिया में निर्धनता का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। जब तक व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास को अवसर न मिले, तो वह सुखी नहीं हो सकता। न्यूयार्क नगर के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री हेनरी लिंकने अभी हाल में लिखा था कि जो सभ्यता व्यक्तित्व के विकास को रोकती है, बिना उसके निर्वासित हुए सुख नहीं मिल सकता। सुख वह इत्र है जिसे दूसरों को लगाने के पहले अपने को लगाना आवश्यक होता है। यह इत्र तभी बनता है, जब हम अपने हरेक कार्य को दूसरे की सहायता के भाव से करें। हमें चाहे अपनी आवश्यकताओं का दमन ही क्यों न करना पड़े, पर हमें दूसरे के सुख का आदर करना पड़ेगा। हेनरी सी. लिंक आगे चलकर लिखते हैं– " सुख का सबसे बड़ा साधन निःस्वार्थ सेवा है। " उन्होंने एक अमेरिकन सिपाही की गत महायुद्ध काल की घटना लिखी है। वह सिपाही पेरिस गया था वहाँ के सुख भोगने के लिए। पर उसे सबसे अधिक आनन्द एक वृद्धा स्त्री का साथ होने में मिला। लिंक की सलाह है कि परिवार तथा समाज को सुखी बनाने के लिए आत्मत्याग तथा आत्मबल सदैव आवश्यक है। इसके बिना न कोई स्वयं सुखी रह सकता है और न औरों को सुखी कर सकता है।

समय का दुरुपयोग

व्यापक दुःख का एक प्रबल कारण समय का दुरुपयोग है। दिन–रात के चौबीस घण्टे कैसे बिताये जायें, यह भी हम भूल गये हैं। कैरिन रुन नामक विद्वान प्रोफेसर ने वर्षों पूर्व एक लेख में लिखा था कि ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो सचमुच में आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हो। या तो हम बीते हुए कल की अपनी भूलों पर पश्चाताप करते रहते हैं या आने वाले कल की समस्याओं की चिन्ता में रत रहते हैं। वर्तमान में क्षणिक विश्राम का जो अवसर मिला, उसे हम खो देते हैं। आखिर हरेक के भाग्य में 24 घण्टें ही होते हैं। यदि आप इनका सदुपयोग सीख जायें तो थकावट तथा शिथिलता के विपरीत उत्साह तथा सुख का जीवन हो सकता है। यदि अपने 24 घण्टों का सदुपयोग किया जाए तो हरेक काम के लिये समय निकल सकता है। जो व्यक्ति समय पर काम करता है उसका काम पूरा होता है। जो कहता है अमुक काम के लिये समय नहीं मिलता वह झूठ बोलता है। जो नई सभ्यता की प्रसाद स्वरूप हर समय घबड़ाया–हड़बड़ाया तथा भाग – दौड़ में रहता है उसे असली काम–काजी मत समझो। जिस व्यक्ति ने रात्रि के समय आने वाले समय का कार्यक्रम नहीं बना लिया तथा जिसने बिस्तरे से उठकर आँखें मूँदकर भगवान का ध्यान नहीं किया, उसका दिन कभी ठीक से नहीं बीतेगा। बिस्तर से जो कूदकर उठता है वह वैसी ही मूर्खता करता है जैसी कि मोटर–गाड़ी को चलाने वाला तीसरे गियर में गाड़ी 'स्टार्ट' करने में करता है। झटके से गाड़ी खराब हो जाती है। आँख खुलते ही

कूद पड़ने वाला व्यक्ति शरीर की मशीन को घिस डालता है। इस प्रकार श्रीकैरिन रुन ने आधुनिक सभ्यता की जल्दबाजी की कड़ी भर्त्सना की है।

विपत्ति की जड़

संसार में धन के सबसे बड़े उपासक यहूदी समझे जाते हैं। पर यहूदी–समाज में भी अब धन के विरुद्ध जेहाद शुरू हो गया है, 'यरुशलम मित्र–संघ ' की ओर से 'चूज' यानी 'पसन्द करलो' शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका लक्ष्य है– तुम ईश्वर तथा शैतान दोनों की एक साथ उपासना नहीं कर सकते। इसके लेखक श्री आर्थर ई. जॉन्स के सुन्दर विचार मैं पाठकों को भेंट कर रहा हूँ। जॉन्स साहब का कहना है– न जाने किस कुघड़ी में रुपया–पैसा संसार में आया, जिसने आज हमारे ऊपर ऐसा अधिकार कर लिया है कि हम उसके अंग बन गये हैं। शायद इसका जन्म उसी दिन हुआ जब आदम और हौवा अदके उद्यान में फल के लालच में पड़ गये। ईसा 2000 वर्ष पहले बैबीलन में सम्राट हम्मुराती का शासन था। उस समय तक रुपये का पूरा राज्य हो चुका था। पट्टा, बन्धक, सूद, कानूनी महत्व, कोष बटोरना, संचय आदि उसके सभी उपयोग सबके ध्यान में आ गये थे, प्रचलित थे। अब्राहम ने रुपया देकर कुछ जमीन खरीदी और उसकी लिखा–पढ़ी ठीक आज जैसी हुई। रुपया बैबीलन में ईश्वर बन गया और आज तक वह संसार में ईश्वर बना हुआ है। आज की दुनियाँ असली ईश्वर को भूल गई, वह केवल " रुपया भगवान " को जानती है। इसीलिए किसी ने कहा है –

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।

स गुणज्ञः सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।

श्री जॉन्स कहते है–

यदि मैं यह कहूँ कि संसार की समृद्धि में सबसे बड़ी बाधा धन यानी रुपया है तो पुराने लोग सकपका उठेंगे ; किन्तुआज संसार में जो भी कुछ पीड़ा है वह इसी नीच देवता के कारण है। खाद्य–सामग्री का संकट, रोग–व्याधि– सबका कारण यही है। चूँकि सभी सुख की सभी वस्तुएँ इसी से प्राप्त की जा सकती हैं, इसीलिए संसार में इतना कष्ट है। जितना समय उपभोग की सामग्री के उत्पादन में लगता है, उससे कई गुना अधिक समय उन वस्तुओं के विक्रय में दाव–पेंच में लगता है। व्यापार की दुनिया में ऐसे करोड़ों नर–नारी व्यस्त हैं जो उत्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं करते है। अनर्थ यह है कि आदमी एक–दूसरे को प्यार नहीं करते। यदि अपनाने की स्वार्थी भावना के स्थान पर प्रतिदान की भावना हो जाए तो हरेक वस्तु का अधिक महत्व हो जाय। आज लाखों आदमी हिसाब–किताब, बही खाते के काम में परेशान है और लाखों आदमी फौज, पल्टन या पुलिस में केवल इसलिए नियुक्त हैं कि बही खाते वालों की तथा उनके कोष की रक्षा करें। जेल तथा पुलिस की आवश्यकता रुपये की दुनिया में होती है। यदि वही लोग उत्पादन के काम में लग जाएँ तथा अपनी उत्पत्ति का आर्थिक मूल्य प्राप्त न कर शारीरिक सुख ही प्राप्त कर सके तो संसार कितना सुखमय हो जाय। आज संसार में अटूट सम्पत्ति उच्च अट्टालिकाओं में, बैंक तथा बीमा कम्पनियों के भवनों में सेना और पुलिस–रक्षकों के दल में लगी हुई है। यदि इतनी सम्पत्ति और उसका बढ़ता हुआ मायाजाल

संसार का पेट भरने में खर्च होता तो आज उसकी दुनिया कैसी होती। अस्पतालों में लाखों नर–नारियाँ रुपये की मार से या अभाव से बीमार पड़े हैं तथा लाखों नर–नारी जेल काट रहे हैं। प्राय: हर परिवार में इसका झगड़ा है। यदि धन की ममता न होती तो यह संसार कितना मर्यादित हो जाता ।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

आश्रम समाचार

कछवा, बरैनी का योग प्रचार कार्यक्रम

इस वर्ष 6 व 7 मई को कछवा में चालीसों वर्ष बाद योग प्रचार कार्यक्रम रखा गया। सर्व प्रथम 1965 में यह कार्यक्रम बरैनी में बाबू महेन्द्र नारायण सिंह के द्वारा आयोजित किया गया था। बड़े ही धूम–धाम से यह कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। कुछ वर्ष बाद यह कार्यक्रम कछवा बाजार में रखा जाने लगा। उस समय भी गुरुदेव की शोभायात्रा निकाली गई थी। गुरुदेव को हाथी पर बैठाकर यह शोभायात्रा निकाली गई थी। इस के मुख्य संयोजक स्वामी प्रसाद सिंह थे जिन्हें कल्लू सिंह के नाम से भी लोग जानते थे । स्वामी प्रसाद सिंह डॉ. विजय सिंह जी के पिता थे। इन्होंने वर्षों तक यह योग प्रचार कार्यक्रम चलाया जो 1985 में गुरुदेव के जन्मोत्सव के रूप में मनाने के बाद रुक गया।

इस वर्ष पुनः कछवा, वजहा एवं मिर्जापुर के साधकों ने पुनः दो दिवसीय कार्यक्रम रखा। 6 मई को सायं एक बहुत की सुन्दर शोभायात्रा निकाली गई जिसमें आनन्दकन्द श्री प्रभु जी एवं गुरुदेव के दिव्य स्वरूप विराजमान थे, उनके चरणों में आचार्य दासलाल जी महाराज (संवाई धाम) विराजमान थे। गुरुदेव के संकीर्तन करते हुये दो–ढाई हजार भक्त यात्रा में चल रहे थे। गुरुदेव जय जय सद्गुरु जय जय, अखण्ड ज्योति प्रभु रामलाल जय जय की दिव्य ध्वनि से आकाश गूँज रहा था। मिर्जापुर से भी पुराने गुरुभाई अपनी मण्डली के साथ पधारे थे। कछवा के पुराने गुरुभाई श्री दशरथ तिवारी जी, अनिल कुमार उर्फ कुंवर आदि भी बहुत ही मनोयोग से संलग्न थे। वजहा, बेनीपुर, टोडरपुर एवं वाराणसी पिन्ड्रा के साधक भी सम्मिलित हुये। बहुत ही आनन्ददायक यह शोभायात्रा निकाली गई थी। शाम को आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज का व्याख्यान रहा उन्होंने सभी को योग मार्ग की महत्ता को बताया और उसे अपनाने की प्रेरणा दी। प्रातः काल 6 मई को गीता पाठ में **पन्द्रहवां** अध्याय का पाठ हुआ और अध्याय का सार समझाया गया। इसमें बताया कि योगी लोग अन्तर्जगत के द्रष्टा होते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त किये ऐसे लोग सूक्ष्म जगत के समस्त क्रिया कलापों के द्रष्टा होकर ज्ञान से परिपूरित रहते हैं और योग की उच्चतम स्थितियों को प्राप्त करने में लगे रहते हैं; 7 मई को प्रातः सोलहवें अध्याय का पाठ किया गया और साधकों को अपने अन्दर दैवी सम्पदा को बढ़ाने की बात की गई। सतोगुण से यह सम्पदा बढ़ती है जिसका मुख्य साधन है जाप एवं ध्यान। डॉ. विजय सिंह जी के घर पर ही आचार्य जी का आवास रहा।

8 मई को टोडर पुर में एक दिन का सत्संग रखा गया था। पश्चात आचार्य जी संवाई धाम के लिये प्रस्थान कर गये थे।

इस प्रकार से कछवा बाजार का यह योग प्रचार कार्यक्रम बहुत सराहनीय एवं प्रेरणादायक रहा। साधकों को नई चेतना एवं ऊर्जा मिली तथा योग मार्ग पर और अधिक वेग से आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योगासन करने से पूर्व

द्वारा– योग प्रशिक्षण केन्द्र, श्री सिद्धगुफा, सवाई

आसन करने से पूर्व साधक को किन–किन नियमों का पालन करना चाहिए यह सब हम अपने पिछले लेख में प्रकाशित कर चुके है। किन्तु फिर भी कुछ और आवश्यक पालनीय नियम हैं जिनका उल्लेख करना हम यहाँ नितान्त आवश्यक समझते हैं।

योगी का आहार :–

हमारे शास्त्र कहते है ' आहार शुद्धौ सत्व–शुद्धि सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। अर्थात् आहार शुद्ध होने पर सतोगुण का विकास होता है। और सत्व शुद्धि होने से ध्रुवास्मृति प्राप्त होती है। सत्व शुद्धि ही समाधि की दात्री है। जिस प्रकार से योगानुष्ठान, आसन प्राणायाम आदि करने से बराबर विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान दीप्ति होती चली जाती है, उसी प्रकार जिस मनुष्य का आहार–विहार पर पूर्ण संयम है, जो योगी अपने आहार को बिल्कुल सात्विक दैविक आहार बना लेता है, उसके शरीर में स्वभावतः ही दिव्य गुणों का प्रकाश हो जाया करता है। जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को रज प्रधान प्राणियों को एवं तमोगुण प्रधान प्राणियों को अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं।

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार–

आयु सत्वबलारोग्य, सुख प्राप्ति विवर्धना।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या, आहाराः सात्विक प्रिया।।

अर्थात् आयु बुद्धि करने वाले, सत्व वृद्धि करने वाले, बल को बढ़ाने वाले, आरोग्यता देने वाले, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले, रसीले, चिकने, जिनकी शक्ति कायम रहने वाली है, जो ह्रदय की पुष्टि करने वाले हैं, अर्थात् जो स्वभाव से ही रुचिकर है ऐसे आहार सात्विक कहलाते हैं और वह सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं। जिन आहारों का लक्षण जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने ऊपर श्लोक में किया है, वह सारे के सारे गुण गोघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ, गेहूं, चना, जौ या रसीले सेब, संतरा, अन्जीर और मौसमी आदि फल घीया, बथुआ, तोरई, चौलाई, पालक, मेथी आदि पत्ती के सागों और कन्दमूलों में होते हैं। यह सब सात्विक आहार है इनके सेवन से मन में सतोगुण का ही विकास होगा। बुद्धि पवित्र बनेगी और सतोगुण प्रधान को स्वभावतः यही गुण प्यारे भी लगेंगे।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार,

कट्वम्ल लवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा, दुख शोकामय प्रदाः।।

अर्थात् कड़वे–करेले आदि, खट्टे आम की खटाई आदि, ज्यादा नमक वाले, अत्यन्त गरम जिनमें बहुत अधिक मिर्च पड़ी हो और रूखे व खुश्क तेज मिर्चो के पकोड़े आदि जो इसी प्रकार के जो शरीर में दरद देने वाले दुख और चिन्ता को पैदा करने वाले इस प्रकार के भोजन रजोगुण को बढ़ाने वाले होते हैं। जो रजोगुणी प्रधान व्यक्ति हैं ये सब भोजन उन्हें प्रिय होते है।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

यातयामं गतरसं, पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम्।।

अर्थात् रस रहित दुर्गन्ध युक्त, बासी, उच्छिष्ट, सड़े–गले भोजन तमोगुण को बढ़ाने वाला है और तामस व्यक्ति को ही वह प्रिय होता है। जैसे पहले दिन के बने हुए जिन पर से रात उतर चुकी है और गत रस हो जाते हैं, ऐसे भोजन तम प्रधान होते हैं। जितने जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान–पान, रहन–सहन प्रिय हुआ करता है। योगी के लिए सात्विक बन जाना बहुत आवश्यक है। जब तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होती तब तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। इसके साथ–साथ इस बात का और ख्याल रखना आवश्यक है कि मन की शक्ति सब आहारों में परिवर्तन कर देती है। दूध, घी, फल, कन्दमूल, साग सब्जी ये सब भोजन सात्विक हैं। किन्तु कोई पाप कमाई करने वाला ऐसे आहारा खिलाता है, तो उनमें उसके मन का असर रहा करता है। सुनते हैं ननकाना साहब में एक बार गुरु नानकदेव के सामने एक नवाब की ओर से घृत–पक्व सुमधुर भोजन आया और दूसरी ओर से दो सूखी रोटी कोई किसान लेकर आया। गुरु नानकदेव ने वह रोटियाँ स्वीकार करलीं किन्तु वह भोजन स्वीकार नहीं किया, लोगों ने उनसे हठ की कि क्या कारण है जो इतने पवित्र घी दूध के भोजन को आपने त्याग दिया, और सूखे जौ की रोटियों को आपने स्वीकार कर लिया। गुरु नानकदेव ने जवाब दिया इन सूखी सूखी रोटियों में दूध है और इस घृत पक्व भोजन में खून है, तमोगुण है। इसी लिए ऐसे तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं थे। यह कहकर उन्होंने पूड़ी उठाकर निचोड़ी और रोटी उठाकर निचोड़ी। रोटियों से दूध और और पूड़ियों से खून गिरने लगा। लोगों ने इस चमत्कार का बड़ा आश्चर्य माना। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि जो भोजन करे वह नेक कमाई का हो तो सोने पर सुहागा होगा। इसके अतिरिक्त भगवान ने गीता में आज्ञा दी है –

युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगोभवति दुःखहा।।

अर्थात् जिसका आहार–विहार युक्त है, जिनका सोना व उठना युक्त है और जिसकी हर चेष्टा नियमिति होती है उनके लिए योग दुखों का नाश करने वाला है। इसलिए सात्विकी आहार के साथ–साथ युक्तहार–विहार के नियम का पालन करना भी बहुत आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबा चबाकर करना चाहिए। दूध को थोड़ा–थोड़ा करके पीना चाहिए, इससे साधकों को यह अनुभव होता रहे कि चबाया हुआ भोजन पेट में पहुँचते ही हजम हो चुका है। आधा पेट भोजन करें, आधा जल से और चर्तुथ भाग वायु के लिए खाली रहने दें। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिए पूर्ण लाभदायक है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि नौजवान जो शीर्षासन आदि करता है और वह अपने आहार को इतना संयमित करदे कि सहन शक्ति से बाहर हो जाय तो उसका परिणाम भी अवश्य खराब निकलता है। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए न उपवास करना चाहिए, उपरोक्त नियम उन परमार्थरत जिज्ञासुओं के लिए है जो हर समय स्वाध्यायशील हैं और समाहित चित्त हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिए उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य व्रतः-

भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने उपरोक्त श्लोक में ' युक्ताहार–विहारस्य ' इस श्लोकों को कह करके युक्ताहार के साथ विहार शब्द का भी प्रयोग किया है।' विहार ' शब्द का अर्थ है, ऐश–आराम, रमणा, इसलिए योगाभ्यासी के लिए यह भी एक आवश्यकीय कर्त्तव्य है कि जगदात्मा के शब्दो का पालन करने के लिए और अपने अभ्युत्थान के लिए अपने–आपको विहार में डाले। युक्तहार विहारस्य का अर्थ है, ठीक समय पर खाना और संयम से रहना। हमारे शास्त्रों में स्थान–स्थान पर ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है

:-

ब्रह्माणि चरतुं शील-

मस्यास्तीत ब्रह्मचारी।

अर्थात् ब्रह्म के अन्दर विचरने वाली जिसकी आदत पड़ गई है, वह ब्रह्मचारी कहलाता है और दूसरे शास्त्रों में वीर्य को ब्रह्म माना है। भगवान शिव ने शिव संहिता में :-

अहं बिन्दु रजः शक्तिः।

अपने-आपको बिन्दु स्वीकार किया है और बीज को शक्ति माना है इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी स्थान-स्थान पर वीर्य का ब्रह्मरूप से वर्णन किया है। अतः जब तक ब्रह्मरूप वीर्य शरीर में व्यापक होकर नहीं रहेगा तब तक मनुष्य योग-अभ्यास का अधिकारी बनता ही नहीं, उसमें भी वह हठाभ्यास से कोसों दूर रहता है। यदि कोई विलासी व्यक्ति अपने आपको हठयोगी बनाना चाहता है तो उसका वह प्रयास इसी प्रकार का प्रयास है जैसे कोई बालक हाथ में चन्द्रमा को पकड़ना चाहता हो। अतः योगासन करने वाला व्यक्ति यदि आसनों के उच्चतम परिणाम को देखना चाहता है तो उसके लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना बहुत ही अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य किसको कहते हैं इसके विषय में हमारे आचार्य लिखते हैं:-

कर्मणा मनसा वाचा,
सर्वावस्था सु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो,
ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।।

अर्थात् सब अवस्थाओं में मन, वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन-त्याग ही ब्रह्मचर्य है। मूत्राशय और मलाशय के ऊपर मणिपूरक में वीर्य का कोष रहता है। शरीर में व्यापक वीर्य इधर-उधर की कामुक तरंगों से द्रवित होकर वहाँ इकट्ठा हो जाता है और उस स्थान में इकट्ठा होने पर शरीर में पुनः व्यापक नहीं हो पाता है और कामोदेक से वह स्खलन की ओर ही जाता है तथा इस प्रकार के विचारों से वीर्य का कोष बार-बार खाली होता रहता है। अतः ब्रह्मचर्य व्रत-धारण करने वालों के लिए यह परमावश्यक है कि वह वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए कोई-न-कोई व्यायाम अवश्य करते रहें, किन्तु अन्य व्यायामों की अपेक्षा जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। यौगिक व्यायाम ही परमोत्कृष्ट है जिनके करने से शरीर की हर नाड़ी ठीक प्रकार से रस-रक्त के वहन करने वाली बनती है। योगासनों के करने से सभी स्नायु सबल हो जाते हैं, छोटी-छोटी शिरायें भी अपने कार्य को ठीक करती है। यथोचित मात्रा में स्थान-स्थान पर रस-रक्त को पहुँचाती हैं। अतः योगासनों के द्वारा बहुत जल्दी वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है। कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं जिनके करने से वीर्य-कोष की ओर न जाकर ऊर्ध्व-गमन करता है। ऐसे ब्रह्मचारी कुछ दिनों में ही ऊर्ध्व रेतस बन जाते हैं। भगवान शिव ने शिव संहिता में स्पष्ट कर दिया है :-

सिद्धे विंदौ महायत्ने,
किन्न सिद्धयन्ति भूतले।
उर्ध्वरेता भवेद्यास्मात,
तावत काल भयं कुतः।।

अर्थात् प्रयत्न करके जो लोग बिन्दु जय करते हैं, वह संसार में सभी कार्य कर सकते हैं। जिन्होंने अपने आपको उर्ध्व-रेतस बना लिया है, उनको कालभय उपस्थित नहीं होता। इसलिए योगासनों

के अभ्यासी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना भी उसका अपना आवश्यक कर्त्तव्य है। बहुत जगह पर इस प्रकार की घटनायें देखने में आती हैं कि जिन्होंने भोग के साथ योग को चाहा, उन्होंने अनायास अपनी मृत्यु को बुला लिया। ब्रह्मचर्य रहित विलासी व्यक्ति यदि योगासन का अभ्यास करते हैं तो 'अकर्णात् कर्मण श्रेय।' के नियमानुसार कुछ न कुछ तो ठीक ही होगा किन्तु उत्कृष्ट फल की प्राप्ति उसी हालत में हो सकती है जब कि वह सावधानी से ब्रह्मचर्य का पालन करे। ब्रह्मचारी के शरीर में व्यापक हुआ वीर्य उसको अतुल बल देता है। योग–दर्शन में भगवान पतंजलि देव के स्पष्ट सीधे व सरल शब्दों में लिख दिया है –

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:?

और उसका अर्थ करते हुए व्यास जी महाराज ने और भी ऊँचे शब्दों में प्रशंसा करके लिखा :–

यस्य लाभाद प्रतिघान, गुणानुत्कर्षपति।

सिद्धश्च्र विनेयेषु ज्ञान माधातु समर्थो भवतीति।।

अर्थात् ब्रह्मचारी अलौकिक गुणों को धारण करता है एवं सिद्ध हो जाने पर अपने शिष्यों में शक्तिपात करने की ताकत वाला हो जाता है। अत: जो लोग योगासन करते हुए और पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे उनके शरीर में अलौकिक गुणों का प्रकाश हो जाना स्वाभाविक है। ब्रह्मचर्य व्रत का यह अर्थ नहीं कि जंगलों में घूमने वाले साधु जटाजूटधारी व्यक्ति ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता है तो गृहस्थी से बदतर हो जाता है और गृहस्थी अपने गृहस्थ धर्म को निभाता हुआ ऋत्युकालानुगामी है और केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिए वीर्यधान करता है वह अवश्य ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग घर–बार त्यागी, साधुओं के लिए ही किया गया है। प्रत्युत् गृहस्थी भी स्वदार–निरत होकर सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ उपभोग करे तो वह अवश्य ब्रह्मचारी ही है। और इस प्रकार के ब्रह्मचर्य व्रत का फल उनका शरीर उनको बतलाता ही रहेगा।

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन के लिए एक विशेष विधि–

प्रणायाम है

प्रथम विधि–

योगासन करने वाले साधक त्रिकोणासन को भली प्रकार जानते हैं। पहले साधारण रूप से खड़े हो जाए फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका रन्ध्रों से एक दम बाहर निकाल दें और निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहाँ पर मल–मूत्र विसर्जनी नाड़ियाँ रहती हैं दाहिने हाथ से बायीं ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राण को बाहर रोके हुए ही बायीं ओर को घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन करले और उसके बाद धीरे–धीरे प्राण को भीतर ले जाए किन्तु भीतर रोकने की आवश्यकता नहीं है फिर प्राणों को समान गति से चलने दें इसी प्रकार से फिर दूसरी बार प्राण कोष को बाहर निकाल कर नाभि के नीचे के भाग फिर दाहिनी ओर का घुटना झुकाकर के त्रिकोण आसन की विधि से आसन करें। जब तक प्राण बाहर रहें तब तक इस आसन को कायम रखें और ज्योंही घबड़ाहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगे तो आसन भी छोड़ दें, साथ–साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर रहने वाला वीर्य कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर की ओर आकर्षित हो जाएगा और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति उर्ध्व रेतस हो जाएगा।

उर्ध्व रेतस प्राणायाम की दूसरी विधि

सिद्धासन में बैठ जाइये, सिद्धासन करने की विधि आगे आसनों में बताई जाएगी, वैसे साधारण रूप से अपने बायें पैर की एड़ी को गुदाद्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमा कर रखें और दूसरे पैर की ऐड़ी को लिंग नाल के ऊपर रखें, वह एड़ियाँइस प्रकार रखी हुई हों जिनकी ग्रंथी भाग (टाकना) बिलकुल सममूत्र रूप से मिले हुए से हों, इस प्रकार जमाए रखें। नीचे की एड़ी को थोड़ा हटा करके रखें

जहाँ यह एड़ी रखी जाती है वहीं से वीर्य वाहिनी नाड़ी जाती है, इसके दबाव से वह नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने से मन के वासनिक आकर्षण कम हो जाते हैं। इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमाकर समकाय शिरोग्रीव की विधि के अनुसार शरीर को समसूत्रता में रखकर सीधा बैठ जाए। ठोड़ी को थोड़ा झुका कर छाती में लगायें, पेट भीतर की ओर खिंचा हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनुसार अपने सारे शरीर के प्राण को एकदम बाहर निकाल लें और उड्डयान–बन्ध लगाए। उड्डयान–बन्ध के साथ–साथ बाहर मूत्र–द्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो जाएगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखें। जिस समय प्राण बाहर की ओर रोके रखें। जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डयान–बन्ध लगाकर मूल–द्वार का उर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो उस समय अपने मन में धारणा करके कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ, फिर उसके बाद जब घबराहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोके नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य–विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और इसके साथ–साथ उपयुक्त खान–पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को 20–21 तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना चाहिए केवल मात्र वीर्य–विकार वाले रोगियों को रोग निवृत्ति के लिए दो या तीन प्राणायाम कर लेने चाहिए, ऐसा करने से उनको अवश्य अनुपम लाभ होगा।

क्रोध न करिए

भोजन के समय क्रोधादि विकार दूर रखिए यदि आपको क्रोध आया है, तो उस समय भोजन न कीजिए। भोजन के समय आनन्द उत्साह और शान्ति से युक्त मन चाहिए। क्रोधादि दुष्ट विकार के समय किया हुआ भोजन पचन नहीं होता। और अनेक रोग उत्पन्न करता है। क्रोधी मनुष्य शीघ्र ही मर जाता है। इसलिए क्रोधादि शत्रुओं को अपने पास नहीं आने देना चाहिए। यदि आप प्रयत्न करेंगे तो निस्संदेह एक माह में अपना स्वभाव बदल सकते हैं। प्रयत्न करके देखिए। चित्त प्रसन्नता रहने से ब्रह्मचर्य रह सकता है। क्रोधादि विकारों के कारण वीर्य नाश होना सम्भव है।

–श्रुतिसार

सिद्धयोग का मार्ग

सिद्धयोग का मार्ग बड़ा विलक्षण है। उसमें आह भरने की फुरसत नहीं न शिकवा करने की गुन्जाइश। यह मार्ग विहङ्गम मार्ग है। इसमें उड़ने को निर्बाध आकाश मिल जाता है। उड़ने के लिए पंख मजबूत होने चाहिए फिर कुछ भी मुश्किल नहीं। श्री गुरुदेव का ध्यान करने से रोग ठीक हो जाते हैं। पर श्री सद्गुरुदेव की सही धारणा प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं। इसके लिये हनुमान जी जैसा हृदय चाहिए। जो हृदय फाड़कर श्रीराम को दिखा सके। यदि श्री गुरुदेव में हनुमान जैसी अनन्य निष्ठा हो तो 'ध्यानमूल गुरोर्मूर्तिः' यह सिद्धान्त सबसे सरल है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय सभी शरीरों का ध्यान करना आना चाहिए।

– आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

ध्यान-साधना की परम्परा कायम हो !

हमारे पूर्वजों ने ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और सुख-समृद्धि का ज्ञान स्कूलों एवं कॉलेजों में जाकर नहीं लिया। उन्होंने अपनी अन्त:प्रेरणा और अनुभवों से ही सीखा कि ध्यान मन का मालिक बना देता है, अन्यथा जीवन भर मन की गुलामी ही गुलामी है। सच्ची स्वतन्त्रता मन के मालिक बनने में ही है। ध्यान हमारे भीतर के अनन्त ज्ञान को उद्घाटित करता है। इसलिए बचपन से ही ध्यान साधना की परम्परा, परिवार में, डाली जानी जरूरी है।

ध्यान-साधना से सहज-भाव अपने आप स्वास्थ्य लाभ होता है। ध्यान स्व में स्थित करता है और स्वास्थ्य शब्द का अर्थ भी-स्व स्थित, का संकेत करता है। अत: ध्यान ही स्वास्थ्य है और स्वास्थ्य ही ध्यान है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्यान से हमारी छिपी शक्ति जो अनन्त है, जाग्रत होती है और तब हमें स्वास्थ्य भी मुफ्त मिलता है। लेकिन हमें यह मंजूर नहीं। स्वास्थ्य का खजाना हमारे अन्दर भरा पड़ा है, परन्तु हम उसे बाहर ढूंढने का व्यर्थ श्रम करते हैं तथा रोग हटाने के चक्कर में उलझते रहते हैं। आँख बन्द कर स्वरूप को जानिये और स्थित हो जाइये। इस साधना में एक क्षण ही तो लगता है।

-मोहनलाल

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-23 JUNE 2022

प्रेषक कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

□□□□□□

प्रणवात् प्रभवो रुद्रः, प्रणवात् प्रभवो हरिः।
प्रणवात् प्रभवो ब्रह्मा, प्रणव एवं अवशिष्यते।।

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव तीनों की उत्पत्ति प्रणव अर्थात् ओंकार से है। और सबका प्रलय होने पर प्रणव ही शेष बच जाते हैं। यह प्रणव काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अण्ड ब्रह्माण्डों में व्याप्त है।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वार्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14368 सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा